* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य १० रुपये

भक्तिमती गोदाम्बा देवी

श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी श्रीकृष्णभक्ति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

वन्दे वन्दनतुष्टमानसमतिप्रेमप्रियं प्रेमदं पूर्णं पूर्णकरं प्रपूर्णनिखिलैश्वर्यैकवासं शिवम्।
सत्यं सत्यमयं त्रिसत्यविभवं सत्यप्रियं सत्यदं विष्णुब्रह्मनुतं स्वकीयकृपयोपात्ताकृतिं शङ्करम्॥

वर्ष ९१

गोरखपुर, सौर आषाढ़, वि० सं० २०७४, श्रीकृष्ण-सं० ५२४३, जून २०१७ ई०

संख्या ६

पूर्ण संख्या १०८७

श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी श्रीकृष्णभक्ति

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

ध्यानाभ्याससे मनको स्ववश करके योगीजन यदि किसी प्रसिद्ध निर्गुण निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो वे उसे भले ही देखें; परंतु हमारे लिये तो श्रीयमुनाजीके तटपर जो [कृष्णनामवाली] वह अलौकिक नील ज्योति दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो। जिनके करकमल वंशीसे विभूषित हैं, जिनकी नवीन मेघकी-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र हैं, अरुण बिम्बफलके समान अधरोष्ठ है; पूर्णचन्द्रके सदृश सुन्दर मुख और कमलके-से नयन हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता।

—श्रीमधुसूदनसरस्वती

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,१५,०००)

कल्याण, सौर आषाढ़, वि० सं० २०७४, श्रीकृष्ण-सं० ५२४३, जून २०१७ ई०

विषय-सूची

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क सजिल्द ₹२२०

पंचवर्षीय शुल्क सजिल्द ₹११००

विदेशमें Air Mail सजिल्द शुल्क — वार्षिक US$ 50 (₹3000), पंचवर्षीय US$ 250 (₹15,000) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**

आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**

सम्पादक—**राधेश्याम खेमका**, सहसम्पादक—**डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़**

केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | **09235400242/244**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**

Online सदस्यता-शुल्क -भुगतानहेतु-gitapress.org पर **Online Magazine Subscription** option को click करें।

अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क kalyan-gitapress.org पर नि:शुल्क पढ़ें।

कल्याण

याद रखो—जो मनुष्य दूसरेका बुरा करके अपना भला करना चाहता है, वह बहुत बड़ी भूलमें है। अपनी सच्ची भलाई, अपना यथार्थ हित उसीमें है, जिसमें दूसरोंकी भलाई—दूसरोंका हित भरा है। इसलिये प्रत्येक कर्म करनेसे पहले यह देख लो कि इस कर्मके परिणाममें किसीकी बुराई तो नहीं होगी—साथ ही यह भी देख लो, इस कर्मसे दूसरोंकी भलाई होगी या नहीं। यदि भलाई नहीं होती तो यह समझकर कि इसमें मेरी भी भलाई नहीं होगी, उस कर्मसे हाथ हटा लो।

याद रखो—सारा चराचर जगत् भगवान्‌का ही स्वरूप है अथवा उसमें एकमात्र भगवान् ही व्याप्त हैं। और यह समझकर सदा सबकी अपनी शक्तिभर यथायोग्य सेवा करो। सेवा वही है, जो सेव्यके लिये सुखदायक और हितकर हो।

विचार करो—जब सब कुछ भगवान् हैं या सबमें भगवान् हैं, तब पराया कौन है? सभी तो आत्माके भी आत्मा अपने प्रभुके स्वरूप हैं—सभी तो अपने सेव्य हैं, फिर किससे और कैसे वैर-विरोध, हिंसा-द्वेष या छल-कपट करें। किसीका कुछ भी अनिष्ट करनेकी कल्पना ही कैसे हो?

याद रखो—सबमें भगवान्‌को देखनेवाले पुरुषके हृदयमें रहनेवाले काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, वैर-हिंसा, अहंकार-अभिमान आदि शत्रु अपने-आप ही मर जाते हैं। उसका हृदय स्वयमेव ही सच्चे सुहृदका काम करनेवाले पवित्र त्याग-क्षमा, सन्तोष-विवेक, विनय-मुदिता, प्रेम-क्षमा और विनम्रता-दीनता आदि विशुद्ध दैवी भावोंसे भर जाता है।

याद रखो—दैवी भावोंसे भरे हुए हृदयमें ही भगवान् प्रकट होते हैं, वहीं उनकी मधुर-मनोहर देवदुर्लभ झाँकी होती है। जबतक हृदयमें दुर्गुण और दुर्विचार भरे हैं, तबतक वहाँ भगवान्‌का प्रकट होना सम्भव नहीं।

विचार करो—तुम मानव-योनिमें आये हो मायाके बन्धनसे छूटकर भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, देवत्वमें ओतप्रोत होकर परम देव पुरुषोत्तमका पावन प्रेम और नित्य अपरोक्ष सान्निध्य प्राप्त करनेके लिये। इसके बदले यदि तुम काम-क्रोधादि शत्रुओंके—लुटेरोंके वशमें होकर मानव-जीवनके महान् उद्देश्यको भूल गये—विषय-सेवनमें लग गये और आसक्तिवश नये-नये पाप कमाने लगे तो देवत्व तो दूर रहा, मिला हुआ मानवत्व भी छिन जायगा और फिर तुम्हें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही नहीं, उससे भी अधम गतियोंमें जाना पड़ेगा। क्या मानव-जीवनका यह जघन्य फल तुम्हें स्वीकार है? यदि नहीं तो, चेतो, सावधान हो जाओ और अपने उद्देश्यकी पूर्तिमें प्राणपणसे लग जाओ।

याद रखो—समय बहुत थोड़ा है, प्रलोभन बहुत हैं और संसारमें फँसाये रखनेवाले तथा जीवनके उद्देश्यको भुलाये रखनेवाली प्रतिकूल परिस्थितियोंकी समाप्तिके बाद उद्देश्य-साधनमें लगोगे—इस दुराशाको छोड़ दो। जहाँ हो, जिस परिस्थितिमें हो, उसीमें कुछ भी, किसीकी भी परवा न करके अपने उद्देश्यकी पूर्तिमें लग जाओ। परिस्थिति अपने-आप बदल जायगी। तुम यह निश्चय कर लो कि तुम्हारा सबसे पहला और प्रधान कर्तव्य एकमात्र यही है।

विश्वास करो—तुम्हारा निश्चय यदि एक और दृढ़ होगा, तुम्हारी लालसा यदि अनन्य होगी और तुम्हारा विश्वास यदि पूर्ण होगा तो जीवनके बचे हुए अल्प-से-अल्प समयमें ही तुम सफल हो जाओगे। वर्षोंसे बन्द अँधेरे घरमें सूर्यका प्रकाश आते ही अन्धकार भाग जाता है। वह यह नहीं कहता कि मुझे इतना समय रहते हो गया है तो कुछ समय और रहूँगा। बस, प्रकाश आया कि अन्धकार मरा, इतना ही समय चाहिये। इसी प्रकार निश्चय, लालसा और विश्वासकी अनन्यता तथा दृढ़ता होनेपर तत्काल भगवान्‌का प्रकाश प्रकट हो जाता है और अनादिकालका अज्ञानान्धकार उसी क्षण नष्ट हो जाता है। लग जाओ—भरोसेके साथ।

'शिव'

आवरणचित्र-परिचय—

श्रीमती आण्डाल (गोदाम्बा)

कर्कटे पूर्वफाल्गुन्यां तुलसीकाननोद्भवाम्।
पाण्ड्ये विश्वम्भरां गोदां वन्दे श्रीरङ्गनायिकाम्॥

भक्तोंकी यह धारणा है कि दक्षिण भारतमें श्रीरामनाथ जिलेके प्रख्यात श्रीविल्लिप्पुत्तूरमें 'श्रीविष्णुचित्त' या 'पेरिय आलवार' नामक श्रीआलवारकी पुत्रीरूपसे स्वयं महालक्ष्मी या भगवती तुलसी ही गोदाम्बाके रूपमें प्रकट हुई थीं। पेरिय आलवार सदा भगवान् नारायणकी आराधनामें लीन रहते थे। बचपनसे ही गोदाके हृदय-सिंहासनपर वे चतुर्भुज घनश्याम विराजमान थे। वे उन्हींको अपना पति मानती थीं। पेरिय आलवार नित्य श्रीरंगनाथके लिये पुष्पमाल्य निर्मित करके गृहमें रखते। आण्डाल उन माल्योंसे अपना शृंगार करतीं और तब दर्पणमें अपना स्वरूप देखतीं। इतना करके उन मालाओंको उतारकर वे यथास्थिति रख देतीं। एक दिन पिताने यह देख लिया। भगवान्की पूजाके लिये निर्मित माल्य उच्छिष्ट करते देख पुत्रीपर वे अत्यन्त रुष्ट हुए। उसी दिन रात्रिमें श्रीरंगनाथने स्वप्नमें दर्शन देकर आदेश दिया—'मुझे आण्डालकी धारण की हुई मालाएँ ही प्रिय हैं। दूसरे पुष्पमाल्य मुझे प्रिय नहीं।' इसीसे आण्डालका नाम पड़ गया 'चूडिक्को दुत्तनाच्चियार' अर्थात् पहनकर देनेवाली देवी। इनका प्रारम्भिक नाम 'कोदई' था, जिसका अर्थ है—पुष्पों में हार के समान कमनीय। इन्हें भूदेवीका अवतार माना जाता है। कहा जाता है कि देवी गोदाम्बाका विवाह भगवान् श्रीरंगनाथजीके साथ हुआ था और वे उन्हींमें लीन हो गयी थीं।

इनके सम्बन्धमें सोलहवी शताब्दीमें विजयनगर-राज्यके चक्रवर्ती सम्राट् श्रीकृष्णदेवरायने एक नाटक लिखा है। उसका नाम है 'आमुक्त माल्यदम्'। आण्डालके रचे प्रबन्ध 'तिरुप्पावै' कहे जाते हैं। ये भक्तिरससे ओतप्रोत हैं। आज भी धनुर्मासमें जब दूसरे आलवार प्रबन्धोंका अनध्याय-काल होता है, उस समय सूर्योदयसे पूर्व सभी विष्णवालयोंमें आण्डालके 'तिरुप्पावै' का पारायण होता है। दस आलवार आण्डालकी पदरज मस्तकपर धारण करते हैं।

ये गोपीभावमें विभोर हुई कहती हैं—पृथ्वीके भाग्यवान् निवासियो! क्षीरसमुद्रमें शेषकी शय्यापर पौढ़े हुए सर्वेश्वरके चरणोंकी महिमाका गान करती हुई हम अपने व्रतकी पूर्तिके लिये क्या-क्या करेंगी—यह सुनो। हम पौ फटनेपर स्नान करेंगी। घी और दूधका परित्याग कर देंगी। नेत्रोंमें आँजन नहीं देंगी। बालोंको फूलोंसे नहीं सजायेंगी। कोई अशोभन कार्य नहीं करेंगी। अशुभ वाणी नहीं बोलेंगी, गरीबोंको दान देंगी और बड़े चावसे इसी सरणिका चिन्तन करेंगी।

गौओंके पीछे हम वनमें जाती हैं और वहीं छाक खाती हैं— हम गँवार ग्वालिनें जो ठहरीं। किंतु हमारा कितना बड़ा भाग्य है कि तुमने भी हम ग्वालोंके यहाँ ही जन्म लिया—तुम गोपाल कहलाये! प्यारे गोविन्द, तुम पूर्णकाम हो; फिर भी तुम्हारे साथ जो हमारा ज्ञाति और कुलका सम्बन्ध है, वह कभी धोये नहीं मिटेगा। यदि हम दुलारके कारण तुम्हें छोटे नामोंसे पुकारते हैं—कन्हैया या कनूँ कहकर सम्बोधित करते हैं तो कृपा करके हमपर रुष्ट न होना, अच्छा! क्योंकि हम तो निरी अबोध बालिकाएँ हैं।

अनन्य प्रेम और परम श्रद्धा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनन्य और विशुद्ध प्रेम तथा परम श्रद्धा—ये दोनों ही विषय बड़े रहस्यपूर्ण हैं। इनकी महिमा कोई भी गा नहीं सकता। इनका रहस्य और तत्त्व वास्तवमें वे ही पुरुष जानते हैं, जो भगवान्‌के परम भक्त हैं—जिन्हें भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है। वे भी वाणीके द्वारा इनका महत्त्व बतला सकनेमें असमर्थ ही हैं। अनन्य प्रेम और परम श्रद्धाका वर्णन करना वैसा ही है, जैसा किसी धनकुबेरको लखपति कहकर उसकी महिमा बतलाना। यह स्तुतिमें निन्दा है; किन्तु फिर भी भगवच्चर्चाके बहाने इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है।

प्रेमके लिये महाराज दशरथजीका आदर्श सराहनीय है। उनका भगवान् राममें अलौकिक प्रेम था। प्रेमीके वियोगमें जहाँ प्राण व्याकुल हो उठें, वहाँ प्रेमकी पराकाष्ठा समझनी चाहिये। जलके वियोगमें मछली तड़प उठती है। यह तड़पन उच्च श्रेणीका प्रेम है। कैकेयीने दशरथजीसे दो वरदान माँगे—(१) भरतको राज्य और (२) रामको चौदह वर्षका वनवास। दूसरे वरदानकी बात सुनते ही राजा दशरथ सहम गये। उन्होंने अधीर होकर व्याग्रतापूर्ण स्वरमें कैकेयीसे कहा—'भरतके लिये राज्य तो भले ही माँग ले, किंतु रामको वनवास देनेकी याचना मुझसे न कर। उसके वियोगमें मेरे प्राण न बच सकेंगे।' बहुत समझानेपर भी कैकेयीने किसी प्रकार भी न माना। भगवान् राम वन चले गये और उधर उनके वियोगसे अत्यन्त दुखी होकर दशरथजी भी संसारसे चल बसे।

भरतजीके ननिहालसे लौटनेपर माता कौसल्याने कहा—'सराहनीय प्रेम तो राजाका है, जिनके प्राण रामके वियोगमें रह न सके।' सुमन्तके लौटनेपर महाराज दशरथजीने उनसे पूछा, 'सुमन्त! क्या रामको वनमें छोड़ आये?' इस प्रश्नके साथ ही वे हाय मारकर रोने लगे और सब लोगोंको सुनाते हुए करुणस्वरमें कहने लगे, 'मेरे प्राण अब बचनेके नहीं, इसलिये मेरे मरनेपर मेरे शवको कैकेयी और इसका पुत्र (भरत) छूने न पायें भरतका दिया हुआ पिण्ड भी मुझे न मिले।' विरहवेदनाका सजीव चित्र श्रीवाल्मीकि-रामायणमें बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंगसे खींचा गया है। अनन्य प्रेमकी सचमुच यह पराकाष्ठा है। भगवान्‌के साथ किसी भी भावको लेकर प्रेम किया जाय, वह आदर्श ही है।

द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका जो प्रेम भागवत आदि ग्रन्थरत्नोंमें पढ़नेको मिलता है, वह निःसन्देह सर्वथा स्तुत्य और अनुकरणीय है। वे जब उनके प्रेममें व्याकुल होती थीं, तब भगवान्‌को विवश होकर प्रकट होना ही पड़ता था। कलियुगमें गौरांग महाप्रभुका प्रेम सराहनीय है।

श्रद्धाके आदर्श स्वयं भगवान् राम हैं। कैकेयीने दशरथजी से ऐसे वर माँगे, जिनकी कभी सम्भावना ही नहीं थी। रंगमें भंग हो गया। सुमन्तके बुलानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जैसे थे, वैसे ही राजमहलमें जा पहुँचे। वहाँ कैकेयीके वरदानकी सारी बातें जानकर वे बोले—'यह तो मामूली बात है। वनमें मुनियोंके दर्शन, आपकी सम्मति तथा पिताकी आज्ञाका पालन और प्रिय भाई भरतको राजगद्दी—ऐसे स्वर्णसंयोगोंपर भी यदि मैं वन न जाऊँ तो भला मेरे समान और मूढ़ कौन होगा?' उसके बाद वे माता कौसल्याके महलमें जाते हैं। माता कहती हैं, 'मेरी आज्ञा है कि तुम वनमें न जाओ। पिताकी अपेक्षा माताकी आज्ञा बलवती होती है।' भगवान्‌ने नम्रतापूर्वक कहा, 'पिताकी आज्ञाका त्याग कर देनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। मैं सीताको सहर्ष त्याग सकता हूँ, हँसते-हँसते प्राणोंका भी विसर्जन कर सकता हूँ, किंतु पिताकी आज्ञा मेरे लिये सर्वथा अलंघ्य है, वह किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती। माताने फिर जोर देते हुए कहा, 'राम! पिताकी अपेक्षा माताकी आज्ञा सौगुनी बलवती होती है, फिर तुम मेरी आज्ञाके पालनमें आनाकानी क्यों कर रहे हो?' राम बोले, 'आपका आदेश सर्वथा मान्य है, किंतु मेरे वनवासके लिए माता कैकेयीकी भी तो आज्ञा है।' इस बातको सुनकर माता कौसल्या निरुत्तर हो गयीं।

भगवान् रामने श्रद्धाकी पराकाष्ठा दिखला दी। वे

प्राणोंका त्याग कर देनेके लिये तैयार हो गये, किंतु पिताकी आज्ञाका परित्याग उनसे सहन न हो सका। श्रद्धेयकी आज्ञाकी अवहेलना होनेपर प्राणोंके त्यागका प्रसंग उपस्थित हो जाना सचमुच श्रद्धाका सर्वोत्तम आदर्श है।

भरतके जीवनमें हमें श्रद्धा और प्रेम दोनोंका ही ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। वे ननिहालसे लौटे। राजमहलकी दशा देखकर सहम गये। कैकेयीसे पूछने लगे, 'पिताजी कहाँ हैं?' उनकी मृत्युके दु:खद संवादको सुनते ही वे हाय मारकर रोने लगे। 'हा पिताजी, इस मन्द-भाग्य भरतको पूज्यचरण भाई रामको सँभलाये बिना ही आप कहाँ चल बसे?' घिग्घी बँधे हुए स्वरमें ही उन्होंने मातासे पूछा, 'मरते समय पिताजी क्या कहते थे?' वे बोलीं 'हा राम, हा लक्ष्मण, हा सीते।' ये ही उनके अन्तिम शब्द थे।

श्रीभरतने पूछा, 'तो क्या राम, लक्ष्मण और सीता उनके पास नहीं थे?' माताने सारी घटना कह सुनायी। सुनते ही भरतका हृदय मानो विदीर्ण होने लगा। वे फूट-फूटकर रोने लगे। उस प्रसंगपर वाल्मीकिरामायणमें भरतको हम इस प्रकार कहते हुए पाते हैं—

न मे विकांक्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम्।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा॥

(अयो० ७३। १८)

अर्थात् अरी पापनिश्चये! यदि राम तुझे सदा माताके समान न देखते होते तो मैं तुझे त्यागनेमें भी कुछ संकोच न करता।

गोस्वामी तुलसीदासजीके मानसमें भी भरतने जलते हुए हृदयसे कैकेयीको बहुत-सी कड़ी बातें सुनायी हैं—

बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥

इसके बाद भरतजी कौसल्याके महलमें गये। वहाँ जाकर भरतजीने अनेकों प्रकारकी शपथें खायीं और बहुत-से पाप गिनाते हुए कहा कि 'यदि रामके वन जानेमें मेरी जरा भी सम्मति रही हो तो ये सब पाप मुझे लगें।' माता कौसल्याने कहा, 'बेटा! तुम्हारी मैं निर्दोषताको खूब जानती हूँ। रामने भी वन जाते समय तुम्हारी बहुत प्रशंसा की थी और यह भी कहा था कि मुझसे कहीं अधिक भरत तुम्हारी सेवा करेगा। इसलिये तुम संकोचको छोड़कर मनमें किसी प्रकारकी ग्लानि न करो।'

दशरथजीका क्रिया-कर्म विधिपूर्वक कर देनेके बाद सभामें सब लोग भरतको राज्य करनेके लिये समझाने लगे। भरतजीने रोकर कहा—'मैं किसी प्रकार भी राज्यके योग्य नहीं हूँ।' भरतजीके इस सुन्दर भावको सभी लोग एक स्वरसे 'साधु! साधु!' कहकर उनकी सराहना करने लगे। अन्तमें भरतजीने वन जानेकी बात सबके सामने रखी। सब लोग तैयार हो गये। भरत पैदल चलने लगे। लोगोंने माताजीसे प्रार्थना की। माताने समझाते हुए कहा कि 'तुम्हारे पैदल चलनेसे सभीको पैदल चलना पड़ेगा।' भरतजी बोले—'जब राम पैरोंके बल गये हैं तो मेरा कर्तव्य है कि मैं सिरके बल जाऊँ। क्या करूँ, आपकी आज्ञा भी माननी पड़ेगी।' इच्छा न रहते हुए भी वे रथपर सवार हो गये।

सब लोग शृंगवेरपुर पहुँचे। गुहको भरतके इस आकस्मिक आगमनपर सन्देह हुआ। उसने सारी सेनाको राम-कार्यके लिये तैयार किया। निषादपति गुहसे मिलते ही भरतके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ा। वे अपने श्रद्धास्पदके अनन्य भक्तको पाकर भावावेशमें अपनेको भूल गये। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। वास्तवमें प्रेमका तत्त्व सच्चे प्रेमी ही जान सकते हैं।

जिस वृक्षके नीचे श्रीरामने एक रात्रि निवास किया था, वहाँ जाकर उन्होंने सीताके वस्त्रके तारोंको पृथ्वीपर बिखरे देखा। वियोगसे व्यथितहृदय भरत रोने लगे। दु:खभरे स्वरमें उन्होंने कहा—'जिस सीताको सूर्य, चन्द्र, वायु आदि देवगण भी नहीं देख पाते थे, उसने मेरे कारण इस शिंशपा वृक्षके नीचे कुशाकी साथरीपर रात्रि बितायी। मैं भी कैसा अभागा हूँ कि अपने पूज्योंके दु:खका इस प्रकार कारण बना।' भरतके इस प्रेम और श्रद्धाको देखकर केवटराज सकुचा गये। अपने मनमें भरतके प्रति सन्देह होनेके कारण उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

जब वहाँसे आगे बढ़े तो भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे। मुनिराजने पूछा—'भरत! तुम वनमें किसलिये आये हो?' इस प्रश्नको सुनकर भरतजी रोने लगे और बोले—

'महाराज! आपका पूछना ठीक ही है, मैं पामर सचमुच इसी योग्य हूँ।' भरद्वाजजी बोले—'मैं तपके बलसे तुम्हारे इधर आनेका कारण जानता हूँ। तुम रामको लौटाने जा रहे हो। हम लोग धन्य हैं, जो आज तुम्हारे दर्शनका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। हमारे तपका, हमारी साधनाका फल था रामके दर्शन, और राम-दर्शनका फल है तुम्हारा दर्शन। भरत! तुम जिन रामके वियोगमें कृश हो रहे हो, वे ही राम एक रात्रिके लिये यहाँ ठहरे थे। रातभर तुम्हारी प्रशंसाका गायन करके उन्होंने हमारे कानोंको पवित्र किया। सारा संसार तो रामके गुणोंका गान करता है और राम तुम्हारे ही गुणोंके गायनसे अपनेको आनन्दित मानते हैं।' भरद्वाजजीके मुखसे श्रीरामजीकी प्रेम-कथाएँ सुनकर भरतजीका हृदय गद्गद, शरीर रोमांचित और वाणी कुण्ठित हो गयी।

रातभर आश्रममें रहकर वे प्रात:काल आगे बढ़े। मार्गमें चलते समय उनकी दशा बड़ी विचित्र थी। वे भगवान्‌के दयालु स्वभावकी ओर देखते तब तो उनके पैर आगे बढ़ते, माताकी करनीकी याद आनेपर पैर पीछे पड़ते और अपनी ओर देखकर वहीं रुक जाते थे। इतनेमें ही उन्हें भगवान् रामके चरण-चिह्न दीख पड़े। बस, फिर क्या था—वे प्रेममें निमग्न हो गये। उस मुग्धताको देखकर गुहको भी शरीर और मार्ग आदिका कुछ भी ज्ञान न रहा। जड़ चेतन और चेतन जड़ हो गये। सर्वत्र एकमात्र प्रेमका ही साम्राज्य छा गया। अन्तमें भगवान् रामका आश्रम दीख पड़ा। भरतजी आगे बढ़े। अपने श्रद्धास्पदके चरणोंके दर्शन पाकर दण्डवत् भूमिपर गिर पड़े। लक्ष्मणजी आवाज पहचानकर बोले, 'महाराज! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।' भरतजीका शरीर भगवान्‌के वियोगमें इतना कृश हो गया था कि लक्ष्मणजी केवल उनकी आकृतिसे उन्हें पहचान न सके। महाराज श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणकी बात सुनते ही भरतको उठाकर छातीसे लगा लिया। दोनों एक-दूसरेके प्रेमाश्रुओंसे भींग गये। आश्रम मानो करुणा और प्रेमका विचित्र रंगमंच बन गया।

अपने वियोगमें पिताकी मृत्युकी बात सुनकर प्रभु बड़े दुखी हुए। अन्तमें पिण्डोदक आदिकी सारी क्रियाके समाप्त हो चुकनेपर सब लोगोंने भगवान्‌से वापस लौटनेकी प्रार्थना की। भरतजीने कहा—'स्त्रीके वशीभूत होकर पिताजीने आपको जो आज्ञा दी है, वह पालनीय नहीं है।' भगवान् राम बोले-'नहीं, पिताजीने कामवश होकर यह आज्ञा नहीं दी है, प्रत्युत अपने प्राणोंका त्याग करके उन्होंने अपने प्रणका पालन किया है। पिताजी पूजनीय और राजा थे, इसलिये उनकी आज्ञा प्रत्येक प्रकारसे पालनीय है।' इसपर भरतजीने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि 'यदि यही बात है तो हम लोग भाई होनेके नाते प्रेमपूर्वक आपसमें बदला कर लें। पिताजीने जो कुछ आपको दिया है उसे आप मुझे दे दीजिये और जो मुझे दिया है, उसे आप ले लीजिये। भगवान् रामने कहा, 'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि इन वरदानोंकी याचना विशेषरूपसे की गयी है। उसमें मेरे वनवास और तुम्हारे राज्यग्रहणकी स्पष्ट आज्ञा है। इसलिये आपसमें बदला नहीं हो सकता।' वाल्मीकिरामायणमें आया है कि भरतजीने भगवान्‌से बहुत प्रार्थना की कि 'मुझे भी आप साथ ले चलिये' किन्तु उन्होंने साथ ले जाना भी स्वीकार नहीं किया। तब भरतजीने दृढ़तापूर्वक यह प्रतिज्ञा की कि 'यदि आप नहीं लौट चलेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा।' वे दर्भका आसन बिछाकर वहीं जम गये। भगवान्‌ने बहुत समझाया कि ऐसा आग्रह न करो। अन्तमें वसिष्ठजीने प्रभुके संकेतके अनुसार भरतजीको समझा-बुझाकर इस बातपर राजी किया कि वे भगवान्‌की चरणपादुका प्राप्त करके उनकी आज्ञाके अनुसार किसी तरह अयोध्यामें चौदह वर्ष बितानेका यत्न करें। भरतने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और प्रभुकी चरणपादुका ग्रहण करके उनसे स्पष्ट कह दिया कि यदि चौदह वर्षकी अवधिके पूर्ण हो जानेपर पन्द्रहवें वर्षके पहले दिन आप अयोध्यामें न पहुँच पायँगे तो मैं अग्निमें अपने शरीरको होम दूँगा। भरतजीने नन्दिग्राममें आकर मुनिव्रतसे चौदह वर्ष भगवान्‌का नाम जपते-जपते बिताये। जब एक ही दिन शेष रह गया तब वे इस प्रकार विलाप करने लगे—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहिं बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

अन्तिम पदोंमें भरतके विरह और प्रेमका कितना मार्मिक वर्णन है। ***'अधम कवन जग मोहि समाना'*** में दैन्यकी पराकाष्ठा हो गयी है। महाराजके दयालु स्वभावके आधारपर उन्हें इस बातका सन्देह नहीं कि भगवान् ठीक समयपर यहाँ नहीं पहुँच पायँगे, किन्तु फिर भी वे मन-ही-मन इस प्रकार कल्पना कर रहे थे कि यदि भगवान् न आ पाये तो मेरे प्राण चले जायँगे और यदि नहीं गये एवं मुझे आत्महत्या करनी पड़ी तो मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं। मेरा वह प्रेम दम्भमात्र ही था, क्योंकि यदि उसमें वास्तविकता होती तो दशरथजीकी तरह क्या ये प्राण-पखेरू भी न उड़ जाते। इस प्रकार विलाप करते हुए भरतजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। ***'राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात।'*** इतनेमें ही राम-विरहके अथाह समुद्रमें डूबते हुए श्रीभरतजीके पास श्रीहनुमान्‌जी नौकारूपसे आ पहुँचे—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

श्रीरामके आगमनके शुभ सन्देशको पवनकुमारके मुखसे सुनकर भरतजीके हृदयमें जो उल्लास उत्पन्न हुआ, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। भरतजी इस सन्देशके उपकार-भारसे दब गये और अपने भावको उन्होंने कृतज्ञताभरे स्वरमें इस प्रकार प्रकट किया—

एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

प्रेमका ऊँचा आदर्श है। श्रीहनुमान्‌जी भरतजीके इस प्रेम और श्रद्धासे सने सुन्दर भावको देखकर मन-ही-मन कहने लगे कि जिनकी प्रशंसा स्वयं भगवान् करते थे, वे भरत ऐसे क्यों न हों।

सन्देशके रूपमें भरतजीको प्राण-दान देकर हनुमान्‌जी भगवान् रामके पास लौटे। इधर अयोध्याका सारा जनसमूह भी प्रभुके दर्शनोंके लिये अधीर हो रहा था। विभीषण आदिके साथ प्रभु अयोध्यामें आ पहुँचे।

अपने गुरु श्रीवसिष्ठजी और सभी ब्राह्मणोंके चरणोंमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने प्रणाम किया। तदनन्तर श्रीभरतजीने पृथ्वीपर गिरकर बड़े प्रेमसे प्रभुके चरणकमल पकड़ लिये। तब कृपाके समुद्र भगवान् रामने उन्हें बलपूर्वक उठाकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया। प्रभुके शरीरमें रोमांच हो आया और प्रेमातिरेकके कारण उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी बाढ़ आ गयी।

परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥

वास्तवमें भरतजी प्रेमके अवतार ही थे। श्रद्धाकी भी मानो वे मूर्ति ही थे। उनके प्राणोंकी रक्षा भी उनकी अटूट श्रद्धासे ही हुई। उन्हें स्वामीकी आज्ञाका पालन करना था। इसलिये विवश होकर भगवान्‌के वियोगमें उन्हें चौदह वर्षकी लम्बी अवधि बितानी पड़ी। किंतु अवधिके समाप्ति-कालमें उनकी कैसी विलक्षण दशा हुई—यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

उधर प्रेमके सच्चे मर्मज्ञ और श्रद्धाके एकमात्र आधार भगवान् राम भी भरतको देखनेके लिये अधीर हो उठे थे। रावणकी मृत्युके उपरान्त विभीषणने भगवान्‌से प्रार्थना की कि वे कुछ दिन और लंकामें बिराजें।

प्रभुने कहा—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

भरतकी दशाका स्मरण करके भगवान्‌का एक-एक निमिष कल्पके समान बीतना स्वाभाविक ही है। क्योंकि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** के अनुसार जब भरत उनके विरहके सन्तापको नहीं सह सकते तो भगवान्‌को भी उनसे मिले बिना चैन कैसे मिल सकता है? उन्होंने अपने ही श्रीमुखसे भरतकी दशाका फिर इस प्रकार वर्णन किया—

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

'जिअत न पावउँ बीर' में भरतके प्रेमकी पराकाष्ठा हो जाती है। हमें भी श्रीभरतजीकी तरह भगवान्‌के अनन्य प्रेमी और परम श्रद्धालु बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

मोह-महिमा

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

संसारमें जहाँ कितने ही महापुरुष ऐसे हैं, जो विकारहेतुके विद्यमान रहनेपर भी विकृत नहीं होते, अनन्तानन्त विक्षेपकी सामग्रियाँ रहते हुए भी वे उनके चित्तको क्षुब्ध नहीं कर सकतीं। वहीं संसारमें ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं कि कुछ न होते हुए भी मनःपरिकल्पित मिथ्या राग मिटानेका शतधा प्रयत्न करनेपर भी अनिवार्य-सा बना रहता है। राजा सुरथ अपने अमात्योंसे बहिष्कृत होकर, निष्किंचन होकर अरण्यमें पहुँच जानेपर भी ममत्वाकृष्टमनस्क होकर सोचता था कि जिस पुरका मैंने और मेरे पूर्वजोंने पालन किया, मेरे बिना अब उसका क्या होगा? असद्वृत्त मेरे अमात्य ठीक-ठीक पालन करेंगे या नहीं? मेरा मतवाला हाथी शत्रुओंके वशमें चला गया, अब उसे खुराक आदि ठीक मिलती है या नहीं? जो प्रसाद, धन, भोजनादिसे सदा मेरा अनुगमन करते थे, वे अब दूसरे लोगोंका अनुवर्तन करेंगे, जिस कोषका मैंने बड़े कष्टसे संचय किया था, उसका सदा व्यय करनेवाले शत्रुओंके द्वारा क्षय हो जायगा—

असम्यग्व्ययशीलैस्तैः कुर्वद्भिः सततं व्ययम्।
सञ्चितः सोऽतिदुःखेन क्षयं कोषो गमिष्यति॥

सोचिये, अब जो चीज अपनी न रह गयी, उसके लिये इतनी चिन्ता क्यों होनी चाहिये? सुरथके समान ही एक दूसरा और उसे मित्र मिल गया—समाधि वैश्य। वह अपनी और विचक्षण कथा सुना चला—'मैं बड़े धनवान् कुलमें उत्पन्न हुआ था, परंतु धनके लोभसे मेरे दुष्ट पुत्रों और स्त्रीने मुझे निकाल दिया। पुत्र-स्त्रीसे वियुक्त होकर और आत्मबन्धुओंसे भी तिरस्कृत होकर मैं वनमें चला आया हूँ, परंतु यहाँ मुझे अपने पुत्र-दारादि कुटुम्बियोंके कुशल-अकुशलका कुछ भी समाचार नहीं मिल रहा है। पता नहीं उन लोगोंके घरमें कुशल-क्षेम है या नहीं। पुत्र सद्वृत्त हैं या दुर्वृत्त, सुखी हैं या दुखी।' राजाने पूछा—'जिन लोभी पुत्र-दारादिने तुम्हारा त्याग ही कर दिया, फिर उनमें तुम्हारा स्नेह क्यों?' वैश्यने कहा—'महाराज! बात तो कुछ ऐसी ही है, क्या करूँ, मेरे मनमें निष्ठुरता नहीं आती। जिन पुत्रोंने पितृस्नेहका परित्याग कर दिया, जिस पत्नीने पतिप्रेम तथा जिन स्वजनोंने जनप्रेमका परित्याग कर दिया, फिर भी उनके प्रति मेरे मनमें क्यों स्नेह है, समझमें नहीं आता!' दोनोंने मिलकर सुमेधा मुनिसे अपनी अवस्था बतलायी। राजाने कहा—'मेरा राज्य और राज्यांग सब चला गया। यह वैश्य भी स्वजनोंसे पूर्ण तिरस्कृत हो चुका, फिर भी क्यों उनमें राग है? मनमें निष्ठुरता क्यों नहीं आती?' विषयोंमें दोषदर्शन कर लेनेपर भी सहसा रागकी निवृत्ति नहीं होती। परस्पर स्नेह भी बन्धनका कारण होनेसे त्याज्य है, विचार करनेसे शुद्धचिदात्मस्वरूप जीवात्माके लिये मिथ्या भौतिक शरीर, तत्सम्बन्धी एवं धनादिमें रागका स्थान कहाँ? लौकिक दृष्टिसे भी परस्पर ही स्नेह ठीक है, परंतु जो बिलकुल नहीं चाहते, क्रूर-से-क्रूर व्यवहार करनेको प्रस्तुत हो सकते हैं, उनमें भी स्नेह और दुस्त्यज स्नेह! यही मोहमहिमा है।

'भागवतमाहात्म्य' में धुन्धुकारीकी कथा प्रसिद्ध

है। वह जिन वेश्याओंको प्रसन्न करनेके लिये अपने माता-पिताके दु:खका कारण बना, जिनके लिये अपना पैतृक धन गँवाया और जिनके लिये चोरी की, उन्होंने ही धनके लोभसे उसे मुखमें अंगार डालकर जला-जलाकर मार डाला।

एक राजाको बड़ा सुन्दर फल मिला, उसने अपनी प्रेयसी पत्नीके स्नेहमें स्वयं न खाकर उसको ही खिलाकर अमर बनाना चाहा। वह प्रेयसी किसी अपने अन्य प्रेयान्‌में आसक्त थी, अत: पतिस्नेहकी रंच भी परवा न करके उसे अमर बनानेके लिये वह फल उसे दे दिया। उसकी भी प्रेयसी कोई वेश्या थी, उसने उसे दिया। वेश्याने सोचा—मैं क्या खाऊँ, मेरा तो जीवन पापमय ही है, यह फल धर्मात्मा राजाको दूँ। यह सोचकर उसने वह फल राजाको दिया। राजा आश्चर्यमें पड़ गया। पता लगाया तो सब रहस्य विदित हुआ। यह उसकी निर्वेदोक्ति प्रसिद्ध है—अहो! जिसका मैं सर्वदा स्नेहसे चिन्तन करता हूँ, वह मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं, वह दूसरेको चाहती है। वह भी दूसरेमें आसक्त है और उसकी भी आसक्तिका विषय किसी कारणसे मुझपर सन्तुष्ट है। उसे, उसको, मदनको और इसे तथा मुझे सबको धिक्कार है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

यह अनुभव करके आखिर राजा विरक्त हो गया। सुरथ और समाधिको भी वैराग्य उत्पन्न हुआ, परंतु एक-दो बार अपमानित होकर भी, तत्त्वज्ञानवान् होकर भी स्थिर वैराग्यवान् होना जन्म-जन्मान्तरके पुण्योंका ही फल है। यों तो रागाभास तत्त्वज्ञानीको भी होता ही है। प्रसिद्ध ही है कि महामाया भगवती ज्ञानियोंके भी मनको बलात् आकृष्ट कर लेती हैं—

जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥

अज्ञानीकी तो कथा ही क्या; ज्ञानीको भी व्यामोह हो जाता है। व्यामोह ग्राह ही है, सबके लिये।

उसकी निवृत्तिके बिना निरंकुशा तृप्ति किसीको भी नहीं प्राप्त होती। पदार्थोंकी क्षणभंगुरता स्पष्ट है। शरीरका अस्थि, चर्म, मूत्र-पुरीषादि मलिन पदार्थ-निर्मितत्व स्पष्ट है, फिर भी राग-द्वेषका अभिनिवेश मिटना सरल नहीं है। परंतु यह भी सत्य है कि बिना उनके मिटे शान्ति भी सम्भव नहीं है। छायाके समान पदार्थ हैं। उनका अनुगमन करनेपर वे हाथ नहीं लगते। विषयों, इन्द्रियों और मनके किंकर बने रहनेपर प्राणीको सारे विश्वका किंकर होना पड़ता है। एक बार जी कड़ा करके विषयोंसे विमुख हो जाओ, संसारसे मुँह मोड़ लो, फिर सुखी हो जाओगे, मनचाही चीज स्वयं पीछे लगी घूमेगी। यदि भोक्ता भोग्यका गुलाम न बना, तो भोग्यको ही भोक्ताका गुलाम बनना पड़ता है।

विचारके द्वारा मोहका समूलोन्मूलन होता है, परंतु इन्द्रियनिग्रह, तपस्या और पराम्बाके मंगलमय चरणोंकी कृपा परमावश्यक है। उसके बिना तो सब साधन व्यर्थ ही हो जाते हैं। इन्द्रिय-निग्रहके बिना सच्छिद्र घटमें डाले हुए जलके समान तपस्याका क्षरण हो जाता है। तपस्याके बिना सम्पूर्ण विचार केवल मनोराज्यमात्र हो जाता है, परंतु उपासनाशक्तिसे विचारोंमें वीर्यवत्ता आती है, अन्यथा पदार्थोंकी नश्वरता और घृणास्पदता शीघ्र ही निर्णीत हो जानेपर भी निष्ठा और आचरणमें कठिनाई क्यों होती? जिनको बाह्य वस्तुओंके विश्लेष और संश्लेषसे हर्ष और क्षोभ नहीं होता, उन्हें जगज्जननी जनकनन्दिनी जानकी नमस्कार करती हैं—

धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये॥
प्रियान्न संभवेद् दुःखमप्रियादधिकं भवेत्।
ताभ्यां हि ये वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम्॥

सर्वत्र भगवद्दर्शन और व्यवहार

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

अन्तिम अवस्थामें भीष्मपितामह जब शरशय्यापर पड़े हुए थे तो उन्होंने पास खड़े हुए लोगोंसे तकिया माँगा। लोग नाना प्रकारके उपधान लेकर दौड़े; परंतु उन्होंने एकको भी स्वीकार नहीं किया। अन्तमें अर्जुन बुलाये गये। उन्होंने तीन बाण भीष्मजीके मस्तकमें बेधकर जमीनपर टिका दिये। भीष्मपितामह बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया 'बेटा! तुम्हारी विजय हो।'

जिस समय जैसा वेष होता है, उसीके अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है। प्रश्न यह उठता है कि जब हम सर्वत्र भगवान्‌को ही देखें और सबको भगवान्‌का शरीर ही मानें तो उनके साथ व्यवहार कैसे करें? सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाला भगवान्‌से कड़ी बात कैसे कहेगा, क्रोध कैसे करेगा और उनसे कैसे लड़ेगा? अयोग्य बात भगवान्‌से कैसे करें? इसका सहज समाधान यही है कि क्रोधके वशमें होकर किसीको कड़वी जबान कहना या किसीसे लड़ना तो पाप ही है, वह तो कभी नहीं होना चाहिये। भगवान्‌को पहचानकर भगवान्‌के आज्ञानुसार नाट्यकी तरह शास्त्रोक्त आचरण करना दूसरी बात है। जहाँ वैसे कड़े आचरणकी आवश्यकता हो, वहाँ सावधान रहते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ ही भगवान्‌की आज्ञा समझकर ऐसा करना चाहिये। वेष ही हमें यह कहता है, उस वेषमें आये हुए भगवान् ही हमें आज्ञा देते हैं कि उनके योग्य जो कर्म है, वही करो। पिताका वेष धारण करके जब वे आये हैं, स्वयं ही आज्ञा दे दी है कि इस रूपमें मेरी सेवा करो। ये भगवत्स्वरूप हैं—ऐसा समझकर ही उनकी पूजा करनी चाहिये। यदि भगवान् पुत्रके रूपमें आयें या स्त्रीके वेषमें आयें तो उस रूपमें आये हुए भगवान्‌को प्यार करे और शास्त्रानुकूल उनकी सेवा भी स्वीकार करे। वहाँ प्यार और सेवा-ग्रहण ही उनकी उचित पूजा है। यदि हम उस वेषके प्रतिकूल व्यवहार करते हैं तो भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन करते हैं। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' का भावार्थ यही है कि वे जिस वेषमें आते हैं, उस वेषके अनुरूप ही वैसे कर्मसे उनकी उपासना हो। आवश्यकता इस बातकी है कि एक क्षणके लिये भी उनको भिन्न-भिन्न रूपोंमें पहचाननेमें भूल न हो और भिन्न-भिन्न स्वाँगोंमें आये हुए अपने परमप्रियतमकी उन्हें भीतरसे पहचानते हुए ही हर समय उचित पूजा करते रहें। '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**' का भी यही अभिप्राय है कि उस परमप्रभु परमात्मासे सारी सृष्टिका स्फुरण—उद्भव हुआ। जो कुछ हम देख रहे हैं या अनुभव कर रहे हैं या कल्पना कर सकते हैं, वे सब भगवान्‌से पैदा हुए हैं और वे ही भगवान् सबमें सब जगह व्याप्त हैं। सृष्टि उन्हींमेंसे निकली और उन्होंने अपनेसे अलग कोई सृष्टि रची—ऐसी बात भी नहीं। अतः माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र, शत्रु—सबमें वे ही समानरूपसे, अखण्डरूपसे व्याप्त हैं। उनके सिवा और उनके बाहर कुछ है ही नहीं। सबमें वे ही भरे हैं। वे ही हमारे सामने इन नाना रूपोंमें खड़े हैं, सबमें ओतप्रोत हैं, हममें भी वे ही हैं; वे मुझमें और मैं उनमें घुला-मिला हूँ।

भूल इसलिये होती है कि हम अपनेको भगवान्‌से अलग मानकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं और कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की कैसे अर्चा होती है, इसे भूल जाते हैं। यह सब कुछ वासुदेव है, इस निश्चयको दृढ़ रखते हुए भी भक्त यह स्वीकार कर लेता है कि यह सारी सृष्टि वासुदेवमय है और मैं उसका सेवक हूँ—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

जो कुछ भी है, वह भगवान्‌का स्वरूप ही है। सारी सृष्टि—सारा चराचर 'सियाराममय' है और मैं उसका दास हूँ। '**दासोऽहम्, दासोऽहम्**' की धुन लग जानेपर '**दा**' छिन जाता है और '**सोऽहम्, सोऽहम्**' की अनुभूति होने लगती है। नर नारायणमें लय हो जाता है, परंतु भक्त ऐसा चाहता नहीं, वह तो अपने प्रियतमके साथ रसानुभूतिके लिये—लीलानन्दके लिये द्वैतको सहर्ष वरण कर लेता है और वह इस अभिमानको एक क्षण भी नहीं छोड़ना चाहता कि मैं सारी सृष्टिमें व्याप्त प्रियतम प्रभुका सेवक हूँ—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

नौकर और मालिक दो न रहें तो खेलका आनन्द ही न रहे। जिस किसीसे व्यवहार होता है—जिस किसी रूपमें वे प्रकाशित हैं, वे हैं केवल 'वे ही'। सब जगह हमारे साथ मन्दिर चलता है, सब जगह हम पुजारी रहते हैं और सर्वत्र हम उनकी स्तुति करते हैं। रातके समय सोते हुए भी बिछौनेपर हम भगवान्‌के मन्दिरमें हैं। प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक व्यक्तिके साथ व्यवहार करते हुए हम भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं। जैसा वेष वैसी ही पूजा—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

'भगवन्! मेरा आत्मा ही आपका स्वरूप है। मेरी बुद्धि ही गिरिराजकिशोरी उमा है, मेरे प्राण आपके सहचर—लीलापरिकर हैं, यह शरीर ही आपका मन्दिर है, विषय-भोगका साज-सामान ही आपकी पूजा-सामग्री है, मेरी निद्रा ही समाधि है—ध्याननिष्ठा है। मेरे दोनों चरणोंका चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है। अपने मुखसे जो कुछ भी मैं कहता हूँ, वह सब आपका स्तवन है। अधिक क्या कहूँ, मैं जो-जो कार्य करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।'

व्यवहारमें यह अवश्य याद रहे कि व्यवहार केवल भगवत्-पूजाके लिये हो। वर्णाश्रम भगवान्‌के खेलका एक सुन्दर साधन है। जिसका जो कर्म नियत हो, उसी कर्मसे वह भगवान्‌की पूजा करे। सभी कर्मोंसे तो भगवान्‌की ही पूजा होती है। इस अवस्थामें मेहतरका कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना ब्राह्मणका। अपने-अपने काममें सभी महत्तर हैं। अपने-अपने स्थानपर सभीकी आवश्यकता और सभीका महत्त्व है। व्यष्टिमें जो सत्य है और स्वाँगका महत्त्व है, वही महत्त्व उसी प्रकार ही समष्टिमें भी है। सब सर्वत्र अपने-अपने समस्त कर्मोंसे भगवान्‌की ही पूजा करते हैं। अपराधीके प्रति यदि हम कड़ा व्यवहार करते हैं और उस व्यवहारमें यह स्मरण रखते हैं कि इस रूपमें हमारे प्रियतम आये हुए हैं और उन्हींकी यह आज्ञा है कि हम उन्हें इस खेलमें कड़ी बातें कहें तो वही क्रोध सात्त्विक रूप धारण करके भगवत्-प्रीतिका साधन बन जाता है। मुख्य बात तो पहचाननेकी ही है और न पहचानना ही सारी भूलोंकी जड़ है। चोररूपमें आये हुए परमात्माकी चोरी न करने देनेकी आज्ञा है। डाकूरूपमें आये हुए-को बलपूर्वक भगानेकी आज्ञा है और आततायीरूपमें आये हुएका शरीर-वियोग करानेकी।

भगवद्भाव जब इतना प्रगाढ़ हो जाय कि स्वाँग भी न दीखे और साक्षात् वे ही दीखने लगें तब तो दोषीको डाँटने या चोरको चोरी न करने देना भी असह्य हो उठेगा। गदाधर भट्टने अपने घरमें आये हुए चोरोंको हरिरूपमें देखा है तो उनके बोझको भारी देखकर अपने ही हाथों उनके सिरपर उठा दिया। यह भगवद्भावकी प्रगाढ़ अवस्थाका लक्षण है। हरिके सिवा कुछ दीखता ही नहीं और इसी हेतु जो कुछ भी व्यवहार होता है, वह उनकी उपासनाका मधुर रूप लेकर ही व्यक्त होता है। स्वाँगका पर्दा हट गया, वह सच्चे रूपमें आ गया।

पर भगवान्‌को पहचानकर किये जानेवाले विषम व्यवहारमें भी यदि हम सबको भगवान् समझें तो हमारे द्वारा वस्तुतः कोई अशुभ कर्म होगा ही नहीं। जैसी उनकी आज्ञा होगी, वैसा ही करेंगे। जिसमें उनकी हाँ होगी, वही हमारे द्वारा होगा। तात्पर्य यह कि हम भगवदीय सत्ताके यन्त्रमात्र हो जायँगे और भगवान् ही यन्त्री बनकर अपना काम हमारे द्वारा करेंगे। उसमें हमारा कुछ मतलब नहीं होगा। उनकी आज्ञा ही हमारे लिये प्रेरक-शक्ति होगी। पापकी या बुरे कर्मोंकी प्रेरणा अथवा आज्ञा भगवान्‌की ओरसे हो ही कैसे सकती है? कामना, आसक्ति, ममता और अहंकारका स्वयं नाश हो जायगा; क्योंकि ये सब भी तो भगवान्‌के अर्पित हो जायँगे। इससे व्यवहारमें कोई आपत्ति नहीं आयेगी। जिस रूपमें जो आये उसका वैसा ही सत्कार, उस रूपमें आये हुए हरिकी वैसी ही पूजा। जहाँ जैसा स्वाँग, वहाँ वैसी ही पूजा। जहाँ यह भाव होगा, वहाँ स्वार्थवश अत्याचार-जुल्म आदि हो नहीं सकते। नौकरके रूपमें भगवान् घरमें हैं। नौकरका अपमान न

करे, उससे घृणा न करे। पर व्यवहारमें तो मालिक ऊपर बैठेगा और नौकर नीचे ही। भगवान्‌की आज्ञा है कि हम अपने नौकरको आज्ञा दें, उससे काम लें, परंतु उसका किसी प्रकार अपमान न करें। उसको अपनेसे नीचा न मानें। उसे भगवान् समझकर यह न करें कि उसकी ही आज्ञाकी प्रतीक्षा करें और उसके कहे अनुसार चलें। ऐसा करना उसको काहिल, सुस्त और बेईमान बनाना होगा, नाटक बिगड़ेगा। नौकरके रूपमें आये भगवान्‌की यही आज्ञा है कि भीतरमें हम उन्हें ठीक-ठीक पहचानते हुए और पहचानमें जरा भी भूल न करते हुए बाहरसे स्वाँगरूपमें प्रेमपूर्वक उन्हें उचित आज्ञा दें और उनसे यथायोग्य काम लें। यदि हम इस स्वाँगकी अवहेलना करते हैं और भगवान्‌की आज्ञाको यथार्थरूपमें स्वीकार नहीं करते तो इससे खेल बिगड़ता है और भगवान्‌का यह अभिनय वास्तविक रूपमें नहीं चलता। जहाँ खेल ठीक-ठीक हुआ, वहीं सांगोपांग पूजा होती है।

यदि सामाजिक व्यवस्था अथवा पारिवारिक बन्धनोंके नियमोंका उल्लंघन करके उनकी अवहेलना करते हैं तो भगवान्‌की आज्ञा नष्ट होती है और खेल बिगड़ता है। खेलको अपना न माने, पर खेल बिगाड़े नहीं। जहाँ ठीक खेल हुआ, वहीं भगवान्‌की उपासना हुई। भगवान्‌का सर्वत्र दर्शन करनेवाला वस्तुतः किसी अन्य वस्तुकी कामना कैसे करेगा, किसीपर क्रोध क्यों करेगा और किसीपर आसक्त क्यों होगा—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

सब पूजाके पात्र हैं। सब पूजनीय हैं। लक्ष्मी-नारायणपर बिल्वपत्र नहीं चढ़ाया जाता और शिवपर तुलसीदल नहीं चढ़ाया जाता। जैसा देवता, वैसी ही पूजा। धतूरे और आकके फूलके बिना शिवजीकी पूजा कैसे पूरी होगी? इसका अभिप्राय यही है कि भिन्न-भिन्न वेषमें एक ही प्रभु आये हुए हैं और उनकी वैसी ही—वेषके अनुरूप ही पूजा होनी चाहिये।

कुरुक्षेत्रमें भगवान् जब कालरूपमें प्रकट हुए और अर्जुनसे यह कहा '**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः**'—मैं कालस्वरूप होकर यहाँ सबको निगलनेके लिये प्रकट हुआ हूँ; उस समय भगवान्‌की पूजा अर्जुन केवल एक ही प्रकारसे कर सकते थे; और वह प्रकार था रणांगणमें सब लोगोंको वीरगतिपर पहुँचाना। सबको भगवान् खा जानेके लिये उस समय प्रकट हुए थे और उन्होंने कहा, इस समय मेरी पूजा यही है—तुम निमित्त बनकर इन सबको मेरे मुँहमें डाल दो। वहाँ यही स्वकर्म था। भगवत्पूजनका प्रकृष्ट—उत्कृष्ट प्रकार था।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू अध्यात्मनिष्ठ चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके, आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर। यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्यकी इच्छा न हो तो भी सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर तत्पश्चात् तू युद्धके लिये तैयार हो, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

अर्जुन तो भगवान्‌की इस सामयिक पूजासे हट रहा था। वह अपने कर्तव्यसे च्युत होने जा रहा था। वहाँ तो रक्त-दानसे ही पूजा होती थी। भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें अर्जुनको यह आज्ञा दी है कि 'मेरे लिये आसक्ति छोड़कर कर्म करो।' यह कर्म ही यज्ञ है। राज्यके लिये रक्तपात न करो, परंतु मेरे लिये करो। इन सबका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक अवस्थामें प्रत्येक आदमी प्रत्येक शास्त्रोक्त कर्मसे भगवान्‌की पूजा कर सकता है। यही महान् साधन है। इतनी याद रखे कि सर्वत्र-सर्वदा सबमें—पशु, पक्षी, वृक्ष, पतंग आदि सबमें एकमात्र भगवान् ही हैं और उन्हें देखते हुए ही उनके साथ व्यवहार करे।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

जहाँ व्यवहार पड़े वहाँ याद कर ले कि सर्वत्र सीताराम ही हैं। मन-ही-मन उन्हें प्रणाम कर लिया, पहचान लिया और आज्ञाके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त हुए।

घुने हुए बीजोंकी कहानी

(श्रीरामनाथजी 'सुमन')

अच्छा खेत है। उपजाऊ मिट्टी है। पक्का, गहरा, जलसे पूर्ण कुआँ है। हल-बैल भी अच्छे हैं। किसान परिश्रमी है। उसने समयपर अच्छी जुताई-बुवाई-निराई की; पैसा खर्च किया, खाद दी; परंतु फसल मारी गयी। पौधे या तो निकले ही नहीं, निकले तो बेजान, बौने, अशक्त। किसानकी आशाओंपर पानी फिर गया। उसने अपना कर्म निष्फल माना।

उसने सब कुछ किया, परंतु वह एक बहुत बड़ी बात भूल गया; उसने बीजोंको नहीं परखा, उनपर ध्यान नहीं दिया। बीज, जो उसकी खेती-किसानीके मूल बिन्दु थे और जिनके बिना मिट्टी, श्रम, खाद, जल सब व्यर्थ हो गये। बीज घुने हुए थे, परंतु इधर उसकी दृष्टि ही नहीं गयी।

सम्भवत: ऐसे किसानको लोग मूर्ख कहेंगे; उसपर हँसेंगे। सम्भवत: ऐसे किसान बहुत कम होंगे, किंतु आज यही कथा घर-घर दोहरायी जा रही है। बच्चे गृह-जीवनके सौख्य और सफलताके लिये बीज-तुल्य हैं। हम बहुत खर्च करके बहू लाते हैं; उसे गहने-कपड़ोंसे लाद देते हैं; उसकी सुख-सुविधाका यथासम्भव सब प्रबन्ध करते हैं। गृहस्थ उसे सुखी रखनेके लिये ही नौकरी, व्यापार या उद्योगमें लगता है। फिर बच्चे पैदा होते हैं। उनके लिये माता-पिता करणीय-अकरणीय हर तरहका यत्न करते हैं। उनके लिये भौतिक सुविधाएँ जुटानेमें जमीन-आसमान एक करते हैं। उनके खेल-कूद, विनोद, दिलचस्पीके सब साधन जुटाते हैं। पढ़ाते-लिखाते हैं। समय देखकर विवाह कर देते हैं।

ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता है, लोग प्रसन्न होते हैं। धीरे-धीरे उसके रंग-ढंगपर पहले अपने बीच और बादमें दूसरोंके साथ भी कानाफूसी होने लगती है—'यही है मुन्ना, जो माँ-बापकी आँखोंका तारा था, जिसे गोदमें लिये-लिये माँ बैठकर रात बिता देती थी, जिसके लिये वे लोग प्राण निछावर करनेको तैयार रहते थे; अब वह घरसे उदासीन हो गया है, दिन-दिनभर उसका पता नहीं लगता, घरके लोग यह भी नहीं जानते कि उसकी संध्याएँ कहाँ बीतती हैं। घरमें रहता भी है तो बस, वह और उसकी पत्नी। घरके और लोग, माता-पिता, चाचा-ताऊ, भाई-बहन उससे दो मीठी बातें करने और सुननेको तरसते रह जाते हैं। होकर भी मानो वह नहीं है, निकट रहकर भी मानो बहुत दूर है।'

बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। यह तो विनाशका आरम्भ है। अब माता-पिताके कुछ कहनेपर, टोकनेपर उलटकर जवाब देता है। यह जवाब दिन-दिन तीखा, वक्र, कटु और मारक होता जाता है। धुआँ अन्दर-ही-अन्दर फैलने लगता है—विषैला धुआँ, दम घोंटनेवाला धुआँ, भयानक अपशकुन और दु:स्वप्नोंसे भरा धुआँ-ही-धुआँ, जो भावी ज्वालाका अग्रदूत है। धीरे-धीरे जीवनकी अट्टालिकाकी नींव खिसकती है और एक दिन सब कुछ धू-धू करके जल उठता है।

क्या यह उस असावधान किसानकी कहानीकी पुनरावृत्ति नहीं है, जिसने सब कुछ किया, किंतु बीजोंकी ओर ध्यान नहीं दिया। संतान भी जीवनकी खेतीमें बीजकी भाँति है। उसके शारीरिक और भौतिक सुखोंको सम्पन्न करने, उसके लिये साधन-सामग्री जुटानेकी जितनी चिन्ता माँ-बाप या प्रतिपालक करते हैं, उसकी आधी भी चिन्ता उसे संस्कार देने, उसमें नैतिक मूल्योंकी भूख जगाने, उसमें मानवोचित संवेगोंको बढ़ाने या पुष्ट करनेके लिये नहीं करते। आज जब हमें चतुर्दिक् मोहाविष्ट करनेवाली भूमिकाओंके बीचसे प्रतिक्षण गुजरना पड़ रहा है, जब भोगोत्सुक नर-नारियोंकी भीड़ हर चौराहेपर खड़ी हो सीधे-सादे पथिकोंका उपहास करती है, तब हमारी संततिके नैतिक संरक्षण और समृद्धिके लिये अधिक सावधानी, अधिक यत्न आवश्यक है; किंतु प्राय: समस्त समाज इस ओरसे उदासीन है। फिर भी शिकायत हर जगह है कि आजकलके बच्चे बड़े उद्दण्ड हैं, किसीकी सुनते नहीं, किसीको गिनते नहीं—एक विस्फोटकी अवस्था है, जिसमें सब रचनात्मक शक्तियाँ

कुण्ठित हो गयी हैं।

हमारे एक अभिन्न मित्र हैं, जो खाते-पीते गृहस्थ हैं। उनका सात्त्विक स्वभाव है। वे साधु-संतोंमें श्रद्धा रखते हैं, भगवन्नामजपके अभ्यासी हैं, सरल प्रकृतिके आदमी हैं, दाँव-पेंच जानते नहीं। सौभाग्यसे स्त्री भी उन्हें सरलहृदया मिली है। कभी उसने अपने लिये कुछ अपेक्षा नहीं की। इन्हें पुत्र हुआ तो उसे बड़े दुलारसे पाला। अपनी शक्तिसे अधिक उसपर खर्च किया। उसकी हर माँग कष्ट उठाकर भी पूरी की गयी। कभी उसे डाँटा-फटकारातक नहीं, हाथ लगानेकी तो बात ही क्या है। आरम्भसे ही उसमें तामसी और राजसी प्रवृत्तियाँ थीं। उन्हें वे अनदेखी किया करते थे। सोचते थे कि समय आयेगा, सब ठीक हो जायगा।

परंतु बच्चेकी वृत्तियाँ अनुशासनके अभावमें विकृत होती गयीं। यहाँतक कि वह बापके नामपर परिचितोंसे पैसे माँग लेता; वे धोखेंमें उसे दे देते। इस प्रकार आदत बिगड़ी और उसे सदा पैसोंकी आवश्यकता पड़ने लगी। कई बार मौका देखकर उसने घरकी तिजोरीसे रुपये निकाल लिये। फिर एक बार माँका सोनेका कंगन चुपकेसे ले जाकर बेच आया। अन्तमें मित्रों और परिचितोंके घरसे माल उड़ाने लगा। पकड़ लिया गया और अब जेलकी हवा खा रहा है।

मेरे परिचित एक किरानेके व्यापारी हैं। अच्छी चलती दूकान है। इसलिये जीवनकी गाड़ी ठीक चलती रही है। उनके बूढ़े माता-पिता, सीधे-सादे, कभी बहुत अच्छी अवस्था थी उनकी भी। हर तरहका सुख था, परंतु अब दशा ठीक नहीं थी। स्वास्थ्य भी जवाब दे गया था। चुपचाप बैठे रामभजन करते थे। बेटे, बहू और पोतेपर जान देते थे। पोता जब कुछ बड़ा हुआ तो वे उसे पुरानी कहानियाँ सुनाते; उसका मनोरंजन करते; परंतु बचपनसे उसे यह नहीं बताया गया था कि माता-पिता, गुरुजनों और आगतोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये; उनकी बातचीतमें बोलना नहीं चाहिये, उनके साथ आदर और नम्रताका व्यवहार करना चाहिये। इसकी जगह वह देखता कि उसके माता-पिता बाबा और दादीसे उनके स्वास्थ्य आदिके विषयमें कभी कुछ नहीं पूछते, जिन बातोंकी जिम्मेदारी उनकी नहीं है, उनके लिये भी उन्हें उलाहने देते हैं, कभी डाँट-फटकार भी सुना देते हैं। वे लाचार कुछ नहीं बोलते; परंतु पोतेको अपने माता-पिताका यह व्यवहार कुछ अटपटा, आश्चर्यजनक और अनैसर्गिक लगता था। पहले तो वह पिताके क्रोधके समय डरकर दुबक जाता, परंतु बादमें बाबासे पूछता कि बाबू क्यों बिगड़ रहे थे? पर ज्यों-ज्यों बड़ा हुआ, वह समझने लगा कि यह निर्दोष बाबापर अत्याचार है। अब उसे क्रोध आता, वह आँखें लालकर देखता, फिर भी भयवश बोलता न था।

कुछ दिन और बीते। वह बड़ा हुआ; उसका विवाह भी हो गया। अब वह अच्छा-खासा जवान था और व्यापारमें भी लग गया था। अब वह बोलने लगा। कभी माँ-बापको प्रणाम करना उसने न जाना था। उनका भद्दा रूप ही उसके सामने आया। कुछ ऐसा रूप, जिसने उसमें विष पैदा किया और उसके हृदयके अमृतको सुखा दिया। वह उद्दण्ड हो गया। एक दिनकी बात है, घरमें कुछ मिष्ठान्न बना था। सबने खूब खाया; बहुत थोड़ा-सा, नाम करनेको बूढ़े-बुढ़ियाको भी दिया गया। शेष उसकी माँकी कोठरीमें रखा था। वह कहीं गयी थी। आकर देखा, उसमें काफी कमी है। बस, उसने अपनी सासपर सन्देह किया। बहुत छोटी बात थी। सास देवी थी। उसके भी कभी अच्छे दिन थे। वह सुनकर बहुत रोयी, पर क्या करती, चुप रह गयी। पोतेने घर आनेपर अपनी पत्नीसे सब हाल सुना। वह खाना-पीना भूल गया। उसने आग-बबूला हो अपने माँ-बापको सैकड़ों बातें सुनायीं।

अपने ही आचरणसे माता-पिताने एक कोमलचित्त बालकको विकृतिके मार्गपर डाल दिया। अब एक ही घरके दो टुकड़े हो गये हैं—बाबा, दादी, पोता और उसकी पत्नी एकमें और पिता तथा माता अलग। घर भ्रष्ट हो गया है; नरक बन गया है। नित्य ताने और व्यंग्यके तीर चलते रहते हैं, कभी-कभी गाली-गलौज भी हो जाता है। उसके पिता हमारे पास आते हैं; बड़े दुखी हैं। कहते हैं कि बूढ़ेने बच्चेपर न जाने क्या जादू

कर दिया है। अब भी दर्पणमें उन्हें अपना चेहरा दिखायी नहीं पड़ता। वे बहुत मामूली-सी बात भूल गये कि उन्होंने उदीयमान बच्चेके सामने माता-पिताके प्रति क्या किया है। अब जब बच्चा उन्हींके सिक्केमें उनको प्रतिदान देता है तो वे रोते फिरते हैं और समयकी दुहाई देते हैं।

इसके विपरीत दूसरे प्रकारके उदाहरण भी मिलते हैं। एक सज्जन वाराणसीके रहनेवाले थे। मेरी कुमारावस्था थी, तब वे राजादरवाजाकी एक गलीमें रहते थे। बहुत छोटा-सा मकान था। पौरोहित्य-कर्म करते थे और दो-एक निजी मन्दिरोंमें पूजा-पाठ भी। परिवारमें ब्राह्मणी थी और एक पुत्र। बड़ी कठिनाईसे पेटमें अन्न जा पाता था, परंतु सन्तोषी थे। अपनी गरीबीमें प्रसन्न थे। सच्चे ब्राह्मण थे। सबसे हँसकर बोलते, जो मिल जाता, उसका कुशल-मंगल पूछते। रोगी, दुखियाकी सेवा-चाकरीको सदैव तैयार रहते। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौच-स्नानादिसे निवृत हो देवार्चन करते। गंगा-स्नान और देवदर्शनके लिये जाते तो पुत्रको भी साथ ले जाते। उसे स्तुतिके श्लोक रटाते और उनका अर्थ समझाते। रास्तेमें जो बड़ा-बूढ़ा या परिचित मिलता, उसे करबद्ध नमस्कार कराते और स्वयं भी झुककर श्रद्धेय गुरुजनोंके चरणस्पर्श करते। बच्चा देखता और वह भी वैसा ही करता। बच्चोंमें अनुकरणकी वृत्ति तो होती ही है। यह बच्चा आगे चलकर बहुत बड़ा विद्वान् हुआ और उसकी शिष्टता तथा शालीनतापर काशीका पण्डित-समाज मुग्ध हो गया। वर्षों बाद मैं एक बार काशी गया तो सोचा—पण्डितजीसे मिलता चलूँ। पहुँचनेपर मालूम हुआ कि वे बहुत बीमार हैं। पण्डितानी पहले ही चल बसी थीं; परंतु लड़का उनकी जो सेवा-सँभाल कर रहा था, वह कोई क्या करेगा? वह अपने हाथों मल-मूत्र साफ करता, शरीर पोंछता, कपड़े बदलता, हाथ-पाँव दबाता, दवा लाकर देता, पथ्य बनाता, उनके लिये दूध दुहाकर लाता और नहा-धोकर उनके सामने बैठ कभी विष्णुसहस्रनाम, कभी दुर्गासप्तशती, कभी महामृत्युंजयका जप और पाठ करता। पिता कृतकृत्य थे, अपने लड़केपर मुग्ध थे। कहते थे, इसने हमारे समस्त कुलको तार दिया। आश्चर्य तो यह कि ऐसी सेवा करते हुए कोई अहंभाव नहीं, कोई खीझ नहीं, कोई विशेषताका दावा नहीं। बिलकुल सहज भाव। मुझे देखते ही उसने वैसे ही चरण-स्पर्श किया, जैसे वह बचपनमें करता था। अपने पाण्डित्य और प्रसिद्धिका कोई अन्तराय नहीं। वह पिताके कष्टकी बातें बताने लगा। उसके नयन अश्रुपूरित हो गये। बोला—'इन्होंने मुझे जन्म दिया, संस्कार दिये; जो कुछ मैं हूँ, इन्हींके कारण हूँ। प्राण देकर इन्हें बचा सकूँ तो भी मैं इनसे उऋण नहीं हो सकता।' नम्र, विनीत, मृदु भावोंसे भरा। उन भावोंको कर्मकी भाषामें प्रकट करनेवाला और वैसा करते हुए भी इतना सहज,मानो उसका स्वभाव हो। कहीं दुराव नहीं, छल नहीं। जो कुछ जीवनके अन्दर भरा है, वह बाहर भी प्रकट हो ही जाता है।

मेरे एक और भी मित्र थे। अब वे नहीं रहे। उनके दो लड़के थे। बड़ा लड़का पैदा हुआ, तब भौतिक सुखोंकी, भोगकी बड़ी स्पृहा थी उनमें। वे पहनने-ओढ़ने, खाने-पीने और नाच-गानेके बड़े शौकीन थे। पैसा भी अच्छा था। कोई अभाव न था। उसी राजसी पार्श्वभूमिमें बड़ा बच्चा पला; उसमें धनकी अनिवार्यताका अनुभव आया। वह जिस-किसी भी कामको हाथमें लेता, उसमें यही देखता कि कितने पैसे मिलेंगे। स्वार्थकी वृत्ति बढ़ती गयी; जीवन उसी रंगमें रँग गया।

उत्तरकालमें मेरे मित्रका जीवन बदल गया। संसारके प्रति आसक्ति बहुत कम रह गयी। पढ़ना-लिखना और भजन-पूजन ही उनका प्रधान कार्य हो गया। उन्होंने कई विषयोंका अच्छा अध्ययन किया। तत्त्वचर्चामें दिन बीतने लगे। संयोगकी बात कि इस अवस्थामें उन्हें एक पुत्र और हुआ। यह बचपनसे ही सात्त्विक वातावरणमें पला, अत: सन्तोषी, विनम्र, सेवापरायण और सच्चरित्र हुआ। मरणकालमें पिताने दोनों पुत्रोंको बुलाया। एक ओर जीवनकी समस्त संचित धनराशि रख दी और दूसरी ओर अपनी लिखी

तथा उच्चकोटिकी कुछ अन्य पुस्तकें, जो उनके पास थीं, आलमारीमें सजा दीं। इन्हींमें उनके नित्यपाठकी गीता और रामायण भी थी। दोनोंसे कहा कि इन दो समूहोंमेंसे जिसे जो लेना हो ले ले। पहले छोटेने ही कहा—'पिताजी! मुझे यह धनराशि नहीं चाहिये, आपकी ये पुस्तकें तथा आपके आशीर्वाद ही मेरे लिये कल्पवृक्ष हैं।' बड़ा तो यह चाहता ही था। पिताकी आँखें चू पड़ीं। उन्होंने छोटेके सिरपर हाथ रखे हुए शान्तिपूर्वक देह-त्याग किया। मैंने सुना तो मुझे याज्ञवल्क्यके प्रति मैत्रेयीका उत्तर याद आ गया।

पाँच ही वर्ष बाद मैंने सुना—बड़ा लड़का अनेक दुस्साध्य रोगोंसे आक्रान्त हुआ, पैसा सब खर्च हो गया और वह दर-दर भीख माँगता फिरता है तथा छोटा लड़का अपने श्रम और चारित्र्यसे ऊपर उठ गया है, सुखी है और इस सुखके मूलमें पिताके आशीर्वादको कारण मानता और बताता है। यदा-कदा वह भाईकी खोज-खबर भी लेता रहता है, सहायता भी करता है।

परंतु उच्च संस्कारसम्पन्न बालकोंका दिन-दिन लोप होता जा रहा है। उधर लोगोंका ध्यान बहुत कम है। शिकायतकी परम्परा लम्बी है और बराबर लम्बी होती जा रही है। ये संस्कारहीन बच्चे गृह-जीवन और समाजके लिये बादमें खतरा बन जाते हैं। उनमें विस्फोटक-तत्त्व बढ़ते जाते हैं। संयुक्त जीवनके लिये, कुटुम्ब-परिवारकी सौख्य-शान्तिके लिये इन्हें रचनात्मक संस्कारोंसे दीक्षित करना होगा। इन घुने हुए, निःसत्त्व, असंस्कारित बीजोंपर जीवनकी लहलहाती खेतीके सपने खड़ा करना अल्पज्ञता है।

पथिक रे!

(श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

पथिक रे! अभी कहाँ विश्राम!!
रुकना तेरा धरम नहीं है, चलना तेरा काम॥
जनम-जनमका तू यात्री है, जुग-जुग, आठों याम।
चल, चल, चल, उठ, उठ, आगे बढ़, क्यों रुकता बेकाम?
पथिक रे!

अरे बटोही! ठीक समझ ले, गति जीवनका नाम।
गति मिलती है निष्ठासे ही, भ्रमपर डाल लगाम॥
पथिक रे!

लक्ष्य निकट फिर घड़ी यही शुभ, देख! दूर है शाम।
भ्रम-संशयसे भटका अबतक दिखता दूर मुकाम॥
पथिक रे!

संशयसे ही सर्वनाश है, ले निश्चयसे काम।
एक दृष्टि रख, एक लक्ष्य रख, कर निर्णय अविराम॥
पथिक रे!

लक्ष्य भूलकर मारग भटका, अटका ग्राम-कुग्राम।
दृष्टि न बिगड़े, लक्ष्य न भूले, तब ही पंथी नाम॥
पथिक रे!

देह नहीं रे! तू देही है, क्या श्रम! क्या विश्राम!!
चेतन, दिव्य, चिरंतन है तू, अविनाशी बल-धाम॥
पथिक रे!

देह-भावसे सारी दुर्गति, खूब चुकाया दाम।
भय-भ्रम तज दे, मूढ़ न बन फिर, सन्मुख शुभ परिणाम॥
पथिक रे!

इधर-उधर क्यों तके सहारा? खुद अपनेको थाम।
पंथ अनूपम, पग-पग पावन, भीतर है सुखधाम॥
पथिक रे!

'एकाकी हूँ'—इस कुभावसे बिगड़ा खेल तमाम।
गरभ-दशामें जो रक्षक था भूल न उसका नाम॥
पथिक रे!

बाहर तेरे शत्रु नहीं हैं, घटमें कर संग्राम।
चल कुछ ऐसी चाल मुसाफिर! मिले सदा आराम॥
पथिक रे!

विश्व-पथिकता तज अब प्यारे! तज सब मारग बाम।
आप स्वयं तू विश्व-रूप है तुझमें तेरा राम॥
पथिक रे! अभी कहाँ विश्राम!!

साधकोंके प्रति—

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

['सो प्रिय जाकें गति न आन की।']

प्रेम-प्राप्तिमें बाधा—कामना

संत-महात्माओंने कहा है कि प्रेमके समान कोई तत्त्व नहीं है। प्रेममें वह शक्ति है, जो परमात्मासे मिला देती है। जैसे प्रेमके बराबर कोई ऊँची वस्तु नहीं है, उसी प्रकार कामनाके बराबर कोई नीची वस्तु भी नहीं है। प्रेमके मार्गमें कामना एक बहुत बड़ी बाधा है। कामनाका अंश लेकर यदि परमात्माकी ओर चलेंगे तो भी वह बाधा ही देगी और यदि संसारके प्राणी-पदार्थोंकी कामना करेंगे, तब तो पतन निश्चित ही है। मनुष्यको समस्त दु:ख, संताप, जलन, आपत्ति, विक्षेप आदि इस कामनाके कारण ही प्राप्त होते हैं, अन्यथा संसारमें कोई दु:ख है ही नहीं। 'हमारे मनकी बात हो जाय'—यह है कामनाका स्वरूप। यही आपत्ति एवं दु:खोंकी जड़ है। यदि विचारपूर्वक इसका त्याग कर दें तो हम आज और अभी कृतकृत्य हो जायँ।

यदि कामना मनसे दूर होती न दीखे तो घबराना नहीं चाहिये, अपितु प्रयत्न करके कम-से-कम इसके वशीभूत तो नहीं ही होना चाहिये; फिर सब कुछ ठीक हो जायगा। कामनाके भुलावेमें आकर तदनुसार क्रिया कर बैठना ही वशीभूत होना है। कामना शत्रु है। इस शत्रुके अधिकारमें मत आइये, फन्देमें न फँसिये। कामनाके कारण ही राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है, जो जीवके महान् शत्रु हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३।३४)

'मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें स्थित जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें न हो; क्योंकि वे दोनों ही कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् लुटेरे हैं।'

अर्जुनने प्रश्न किया—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३।३६)

'भगवन्! यह मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है? ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई बलपूर्वक इससे ऐसा करवा रहा हो?'

तब भगवान्ने कहा—'**काम एषः**' (गीता ३।३७)—यह काम अर्थात् यह भोगेच्छा (आसक्ति)—सुखकी, आरामकी, स्वतन्त्रताकी, जीनेकी, बड़ाईकी कामना ही अनर्थोंकी मूल है। मुक्तिकी इच्छा भी साधकको समयपर मार्गसे विचलित कर देती है; परंतु अन्य प्रकारकी इच्छा—कामना तो नि:सन्देह पतन करती ही है।

बड़ी-बड़ी मिलों एवं कारखानोंमें बिजलीसे कई हॉर्स पावरकी मोटरें चलती हैं, उनसे सम्बद्ध करके दूसरी धुरियोंपर पट्टा चढ़ा दिया जाता है। मोटरके साथ-साथ सब धुरियोंके चक्के भी चलते हैं। उन चलते हुए चक्कोंकी लपेटमें यदि किसी मनुष्यका वस्त्र आ जाता है तो उसके साथ वह मनुष्य भी चक्कोंकी लपेटमें आकर समाप्त हो जाता है। ठीक, इसी प्रकार इस संसाररूप कारखानेके विभिन्न योनिरूप चौरासी लाख चक्कोंके बीच सुरक्षित रहना हो तो इससे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग करके इसकी सेवा करनी चाहिये, अन्यथा चक्कोंमें पिस जाना निश्चित है।

आप अभी मुक्त होना चाहें या किसी अन्य जन्ममें, अन्ततोगत्वा आपको इस अनन्त पापोंकी जड़भूत कामनासे अपना पिण्ड छुड़ाना ही पड़ेगा।

यह जीवात्मा है तो परमात्माका सनातन अंश, परंतु इसने प्रकृतिके अंश (संसार, शरीर आदि)-को पकड़ रखा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५।७)

यह जीव प्रकृतिके अंशसे जितनी सुख-सुविधा चाहेगा, उतना ही कामनाओंके बीहड़ वनमें भटकता चला जायगा और यदि सांसारिक सुखेच्छासे विमुख हो परमात्माकी ओर चलेगा तो समस्त दु:खोंसे दूर—बहुत दूर शान्ति और प्रेमके महान् आनन्द-समुद्रमें निमग्न

होकर सदाके लिये निहाल हो जायगा।

एक निश्चय

प्रेमी भक्त भगवान्‌से अपना नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे कहते हैं—'प्रभो! मैं आपका हूँ, मेरा अन्य किसीसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। आप चाहे मुझे अपना मानें, या ना मानें।' विश्वासकी ऐसी दृढ़ता प्रेमास्पदको व्याकुल कर देती है। माँ पार्वतीके ये दृढ़ निश्चयात्मक वचन प्रेमियोंके लिये एक उदाहरण हैं—

तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(रा०च०मा० १। ८१। ६)

'भगवान् शंकर यदि सौ बार कहें कि मैं तुझे स्वीकार नहीं करता और मेरे करोड़ों जन्म बीत जायँ तो भी मैं नारदजीके उपदेशकी अवहेलना नहीं करूँगी।'

'बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥'

'वरण करूँगी तो भगवान् शंकरका ही, नहीं तो कुँवारी ही रहूँगी।' क्या भगवान् शंकरमें ऐसी शक्ति है, जो उन्हें अस्वीकार कर दें? यह है एकांगी प्रेम। प्रेम होता ही एक ओरसे है। प्रेमास्पद चाहे प्रेम करें या न करें, हमें इस बातकी परवाह नहीं।

तत्त्वबोध होता है अपने कल्याणके लिये, अपने उद्धारके लिये, जब कि प्रेम होता है भगवान्‌को सुख देनेके लिये, भगवान्‌की सेवा करनेके लिये। प्रेमीको प्रेमास्पदसे कुछ नहीं चाहिये। उसकी तो बस एक ही माँग है—'भगवान् मुझे प्यारे लगें, मीठे लगें।'

मैं प्रभुका हूँ

भगवान् मुझे प्यारे लगें—इसका क्या उपाय है? वैसे तो जप, ध्यान, भजन, स्वाध्याय आदि सभी साधन उपयुक्त हैं, परंतु भगवान्‌के साथ जो अपनेपनका सम्बन्ध है, वह इसके लिये अमोघ उपाय है। 'बस, मैं भगवान्‌का हूँ, केवल भगवान्‌का; और मेरा कोई नहीं है।' ***'सो प्रिय जाकें गति न आन की'***

(रा०च०मा० ३। १०। ८)

भगवान्‌को वह प्रेमी भक्त अत्यन्त प्रिय है, जिसका किसी दूसरेसे लगाव न हो।

अब प्रश्न यह होता है कि दूसरे लोग भी मुझे अपना मानते हैं, इसके लिये क्या करना चाहिये? दूसरे लोग मुझे अपना मानते हैं, इसका अर्थ यह है कि मैं उनके अनुकूल चलूँ, उनकी सेवा करूँ; परंतु यदि मैं उनको अपने अनुकूल चलाना चाहूँगा तो अवश्य ही हलचल मचेगी। 'कोई मेरे अनुकूल चले'—इस बातकी तो धारणा ही मिटा देनी चाहिये, तभी प्रेम होगा; अन्यथा आदान-प्रदान होगा, व्यापार होगा।

'मैं भगवान्‌का हूँ'—इसका तात्पर्य यह है कि वे मुझे चाहे जैसे रखें, मुझसे चाहे जैसे काम लें, मुझे सुख पहुँचायें या दुःख, अच्छा मानें या बुरा, मैं तो उनकी वस्तु हूँ। वे जैसे चाहें मेरा उपयोग कर सकते हैं, उनको पूरी स्वतन्त्रता है। प्रभुके प्रति समर्पणका यही सर्वोत्तम उपाय है।

यदि प्रेमीसे कोई पूछे कि 'तुम भगवान्‌को अपना क्यों मानते हो?' तो उसका उत्तर होगा—'वे मुझे प्यारे लगते हैं, इसलिये मानता हूँ। उनके सिवा दूसरा कोई मेरा है ही नहीं।' सच है, भगवान्‌के सिवा अन्य सब स्वार्थवश धोखा देनेवाले हैं—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(रा०च०मा० ७। ४७। ६)

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(रा०च०मा० ४। १२। २)

'भगवान्‌के सम्बन्धसे मुझे क्या मिलेगा?'—इस 'लेने' के फेरमें पड़कर ही तो मैंने इतने जन्म बिता दिये, इसी कारण संसारमें जन्म-मरण हो रहा है। इसी कारण सभी जीव दुःख पा रहे हैं, बड़े-बड़े कष्ट उठा रहे हैं। जीवकी जितनी भी हानि होती है, सब इस 'लेनेकी इच्छाका' ही फल है।

सच पूछिये तो प्रेमी भगवान्‌का भी दाता होता है। वह भगवान्‌को देता है—प्रेम, श्रद्धा और विश्वास तथा संसारको देता है—सेवा। प्रेमी तो देता-ही-देता है, लेता नहीं—न भगवान्‌से, न संसारसे।

ऐसे प्रेमी भक्तोंके संकेतपर भगवान् नाचते हैं। इतना ही नहीं, वे भक्त भगवान्‌के भी भगवान् हो जाते हैं। (यद्यपि भक्त ऐसा नहीं चाहता तथापि भगवान्‌की यह भक्तवत्सलता है, जो वे भक्तको अपना इष्ट मानते हैं।) संसारके भगवान् तो वे परम प्रभु हैं, किंतु भगवान्‌का भगवान् वह प्रेमी भक्त है, जो केवल भगवान्‌का है, अन्य किसीसे जिसका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे भक्तोंके प्रति भगवान् कहते हैं—

'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुट मणि।'

'पुण्य' शब्दकी अर्थव्यापकता

(साहित्यवाचस्पति श्रीयुत डॉ० श्रीरंजनजी सूरिदेव, एम०ए०, पी-एच०डी०)

'पुण्य' शब्दका बहुत व्यापक अर्थ है। पवित्र, पुनीत, शुचि आदि उसके पर्यायवाची हैं। महाकवि कालिदासने अपने 'मेघदूत' काव्यमें इस शब्दका अर्थ पवित्रतासे ही सम्बद्ध माना है। इस काव्यके प्रारम्भिक श्लोकमें ही वे लिखते हैं—'**जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु।**' अर्थात् कुबेरद्वारा अभिशप्त यक्षने 'रामगिरि' नामके पर्वतपर डेरा डाला था। वह 'रामगिरि' पर्वतीय आश्रम था, जहाँ वनवासकी अवधिमें सीताके स्नानसे पवित्र जलका निर्झर प्रवाहित था।

उज्जयिनीके महाकाल शिव चण्डीश्वरके धामको भी महाकविने '**पुण्यं धाम**' कहा है, जिससे उस शिवतीर्थकी पवित्रता सूचित होती है। पुनः महाकवि कालिदासने अपने दूसरे प्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवंश' (३।४१)-में लिखा है कि '**तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।**' अर्थात् नन्दिनी गौके पवित्र मूत्रसे जब रघुने अपने नेत्र धोये, तब उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी। इस प्रकार उस गोमूत्रको 'पुण्य' यानी 'पवित्र' शब्दसे विशेषित किया गया है।

इसी प्रकार 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटकके द्वितीय अंकके १४वें श्लोकमें कालिदासने पवित्रके अर्थमें 'पुण्य' का प्रयोग किया है। लिखा है—'**पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥**' अर्थात् दुष्यन्त-जैसे महात्मा एवं जितेन्द्रिय राजाके यशका गुणगान चारण-दम्पती करते थे। वह महात्मा भी 'मुनि' इस पुण्य, यानी पवित्र नामको धारण करते थे, अन्तर केवल यही था कि उनके 'मुनि' के पूर्व 'राजा' शब्द था अर्थात् वह 'राजमुनि' थे, पुण्य आत्मावाले थे यानी पुण्यात्मा थे।

मनुने भी 'मनुस्मृति' में द्विजातियोंके लिये उपनयनका जो विधान बताया है, उसे पुण्य यानी पवित्र कर्मयोग कहा है—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत॥

(मनु० २।६८)

वामन शिवराम आप्टे-सम्पादित संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोशके अनुसार 'पुण्य' के अच्छा, भला, गुणी, सच्चा, न्यायी, शुभ, कल्याणकारी, भाग्यशाली, अनुकूल आदि अर्थ हैं। पुनः व्यवहारमें भी 'पुण्य' का अर्थ पवित्र ही किया जाता है। जैसे—पुण्यतिथि, पुण्यमुहूर्त, पुण्यकर्म, पुण्य आचरण, पुण्यवचन आदि।

इसी प्रकार 'पुण्य' का अर्थ रुचिकर, सुहावन, प्रिय, सुन्दर आदि भी उपलब्ध हैं। यदि कोई व्यक्ति देखने-सुननेमें सुन्दर है तो उसे 'पुण्यदर्शन' कहा जाता है। मधुर-मनोहर गन्धको भी 'पुण्य गन्ध' कहा जाता है।

'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।'

(गीता ७।९)

औपचारिक उत्सव या संस्कार-सम्बन्धी कार्यको भी पुण्यकार्यमें गिना जाता है। सद्गुण या धार्मिक-नैतिक गुण आदि भी 'पुण्य' शब्दसे ही सम्बोधित किया जाता है। व्रत, पर्व आदिके विशिष्ट समयको पुण्यकाल कहा जाता है। शुभ कार्यको भी पुण्यका कार्य माना जाता है। पुण्यके विपरीत पाप होता है तो पापका विपरीतार्थ पुण्य होता है।

पवित्र तुलसीको 'पुण्या' कहा गया है। पवित्र दिवसको पुण्य दिवस मानकर आशीर्वाद-स्वरूप वैदिक कहते हैं—'**पुण्याहं पुण्याहम्।**' अर्थात् आपका पूरा दिन पुण्यमय, यानी मंगलमय हो। बहुत-से धार्मिक संस्कारोंके आरम्भमें 'पुण्याहम्' का तीन बार उच्चारण किया जाता है—अर्थात् यह शुभ दिवस है।

सुखमय प्रभातको भी 'पुण्योदय' कहा जाता है। किसीको सुख-सम्पन्नता आदिकी प्राप्ति होती है तो उसके लिये कहते हैं—इसका पुण्योदय या भाग्योदय हुआ है। गुणी एवं विद्यावान् धार्मिक पुरुषको भी

'पुण्यवान्' ही कहा जाता है। जो स्तुत्य या प्रशंसनीय कार्य करता है, खरा और ईमानदार है, वह भी पुण्यवान् या पुण्यशील माना जाता है।

राजा नल, युधिष्ठिर, विदेह जनक और भगवान् जनार्दनको पुण्यकर्मा या पुण्यश्लोक कहा गया है।

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोको विदेहश्च पुण्यश्लोको जनार्दनः॥

किसी महान् व्यक्ति या कार्य या विशिष्ट स्थान या वस्तुकी श्रेष्ठता या पवित्रताको बतानेके लिये 'पुण्य' शब्द जोड़नेकी बात एक शिष्टाचार है। जैसे—पुण्यकृत्, पुण्यजन, पुण्यक्षेत्र, पुण्यतीर्थ, पुण्यगृह, पुण्यप्रताप, पुण्यफल, पुण्यलोक, पुण्यभूमि आदि। पाप-पुण्यके बारेमें एक श्लोकात्मक सूक्ति प्रसिद्ध है—

न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।
पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं कुर्वन्ति नो जनाः॥

अर्थात् लोग पापका फल नहीं चाहते, पर पाप यत्नपूर्वक करते हैं। पुण्यका फल चाहते हैं, पर पुण्यका कार्य नहीं करते।

पाप और पुण्य क्या हैं, इस सन्दर्भमें भी एक श्लोकात्मक सूक्ति प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात् अठारह पुराणोंमें व्यासजीके सम्पूर्ण कथनके साररूप दो ही वचन हैं—परोपकारसे पुण्य होता है और परपीडनसे पाप।

नारायणोपनिषद्में कहा गया है कि जैसे पुष्पित वृक्षोंकी सुगन्ध दूर-दूरतक फैल जाती है, वैसे ही पवित्र कर्मोंकी सुगन्ध दूर-दूरतक पहुँच जाती है—

यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति।
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति॥

प्रेरक प्रसंग—

पुण्य-कार्य कलपर मत टालो

एक बार धर्मराज युधिष्ठिरके समीप कोई ब्राह्मण याचना करने आया। महाराज युधिष्ठिर उस समय राज्यके कार्यमें अत्यन्त व्यस्त थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक ब्राह्मणसे कहा—'भगवन्! आप कल पधारें, आपकी अभीष्ट वस्तु प्रदान की जायगी।'

ब्राह्मण तो चला गया; किंतु भीमसेन उठे और लगे राजसभाके द्वारपर रखी हुई दुन्दुभि बजाने। उन्होंने सेवकोंको भी मंगलवाद्य बजानेकी आज्ञा दे दी। असमयमें मंगलवाद्य बजनेका शब्द सुनकर धर्मराजने पूछा—'आज इस समय मंगलवाद्य क्यों बज रहे हैं?'

सेवकने पता लगाकर बताया—'भीमसेनजीने ऐसा करनेकी आज्ञा दी है और वे स्वयं ही दुन्दुभि बजा रहे हैं?'

भीमसेनजी बुलाये गये और उनसे असमय मंगलवाद्य बजानेका कारण पूछा गया तो वे बोले—'महाराजने कालको जीत लिया, इससे बड़ा मंगलका समय और क्या होगा?'

'मैंने कालको जीत लिया?' युधिष्ठिर चकित हो गये।

भीमसेनने बात स्पष्ट की—'महाराज! विश्व जानता है कि आपके मुखसे हँसीमें भी झूठी बात नहीं निकलती। आपने याचक ब्राह्मणको अभीष्ट दान कल देनेको कहा है, इसलिये कम-से-कम कलतक तो अवश्य कालपर आपका अधिकार होगा ही।'

अब युधिष्ठिरको अपनी भूलका बोध हुआ। वे बोले—'भैया भीम! तुमने आज मुझे उचित समयपर सावधान किया। पुण्य-कार्य तत्काल करना चाहिये। उसे पीछेके लिये टालना ही भूल है। उन ब्राह्मणदेवताको अभी बुलाओ और उनकी अभीष्ट वस्तु उन्हें प्रदान करो।'

प्रेरक-कथा—

जीवदयाका सुपरिणाम

(डॉ० श्री ओ०पी० गुप्ता)

अनवरने सुबह-सुबह मछलियाँ पकड़नेका जाल उठाया, कन्धेपर डाला और समुद्रकी ओर चल पड़ा मछलियाँ पकड़नेके लिये।

उसे रातमें ही उसकी बेगमने घरका हाल बता दिया था कि घरमें कुछ भी खानेको नहीं बचा है। मछलियाँ पकड़कर और उन्हें बेंचकर ही घरमें राशन आयेगा, तभी बच्चोंकी पेट-पूजा हो सकेगी। अनवर, जो बहुत ही समझदार और अनुभवी मछुवारा था, यही सोचते हुए समुद्र-तटकी ओर लम्बे-लम्बे कदम रखते हुए बढ़ रहा था।

उसे यह अच्छी तरह पता था कि यदि जल्द सुबह जाल समुद्रमें नहीं फेंका तो मछलियाँ नहीं मिलेंगी। समुद्र-तटपर पहुँचते ही उसने एक तयशुदा जगहपर जाल फेंक दिया, मछलियाँ फँसने लगीं और वह बैठा जाल भरनेकी बाट जोहने लगा। उसके सिद्धहस्त हाथ कभी गलती कर ही नहीं सकते थे। थोड़ी देर बाद उसे यह एहसास होने लगा कि जालमें काफी मछलियाँ फँस गयी हैं। जाल खींचनेपर उसने देखा कि एक काफी मोटी और पुरानी मछली आ गयी है, जिसे वह पकड़ना नहीं चाहता था। उसने उस मछलीको जालसे रिहा कर दिया और आगेकी ओर जाल लेकर बढ़ने लगा।

आगे जाकर उसने देखा कि वह मछली फिर जालमें आ गयी है, इस बार भी उसने उसे जालसे निकाल दिया, और आगे बढ़ गया। कुछ देर बाद जाल देखा तो वही मछली पुनः उसमें गुमसुम-सी बैठी थी।

अनवर सोचने लगा क्या कारण है, यह मछली बार-बार जालमें क्यों आ जाती है? इसी बीच उसे मछलियोंके बीच जो बातचीत चल रही थी, वह सुनायी पड़ी। अनवर एक पुराना मछुवारा तो था ही, उसे मछलियोंकी भाषा भी समझमें आती थी, उसने सुना कि छोटी मछलियाँ बड़ी मछलीसे कह रही थीं, 'माँ! तू वापस जालसे निकल जा, यह मछुवारा काफी दुष्ट है, यह हम सबको मार डालेगा। माँ! तू क्यों जान दे रही है? अच्छी-भली माँ! तू यह समझ जा।'

यह सब अनवर सुन रहा था। बड़ी मछली बोली—'बेटा! क्या कोई माँ अपने बच्चोंको अपने जीते-जी मरता देखना चाहती है, कदापि नहीं। इस संसारमें माँका ही प्यार है, जो वह सब कष्ट सहते हुए बच्चोंको बड़ा करती है, पालती-पोसती है और उन्हें खुश रहनेके लिये खुदासे मिन्नतें करती रहती है। मैं भी तुम सबके साथ कुर्बान हो जाऊँगी, जबतक शरीरमें जान है, तुम सबको अकेला नहीं छोड़ूँगी, खुदा हमारे साथ है।'

जब अनवरने ये बातें सुनीं तो उसका भी दिल भर आया और उसने तय कर लिया कि आज मैं इन मछलियोंको रिहा कर दूँगा, चाहे घरमें बाल-बच्चोंसे झूठ ही क्यों न बोलना पड़े? उसने वैसा ही किया, खाली जाल लेकर वह घर पहुँचा तो घरके सभी लोग अनवरको दहलीजपर मिले, बच्चोंने एक स्वरमें पूछा—अब्बा! कितनी मछलियाँ पकड़में आयीं? कहाँ हैं मछलियाँ? लाओ, हमें सब दे दो।

अनवर ठण्डी साँस लेकर बोला—आज जालमें कोई मछली नहीं फँसी, खाली जाल ले आया हूँ। बच्चोंके मुँह सूख गये, पर क्या करते? अब्बा झूठ तो बोल नहीं रहे थे, खाली जाल उन सबके सामने था।

अनवरने जाल खूँटीपर टाँग दिया। अचानक उसे दिखा कि एक सीप उस जालमेंसे नीचे आ गिरी है! अनवरने सीपको खोला तो उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि उसके अन्दर एक अच्छे किस्मका मोती है!

अनवर मोती लेकर जौहरीबाजार चल दिया। उसने उसे एक जान-पहचानवाले जौहरीको दिखाया और बोला इसकी कीमत दे दो, मेरे बच्चे घरमें भूखे हैं, उनके लिये बाजारसे राशन ले जाना है। जौहरी बोला—भाई अनवर! कीमत तो अवश्य ही दूँगा और

इसकी कीमत तुम्हें इतनी मिलेगी कि एक माहतक समुद्रमें जानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी, अनवरने कहा— भाई! पैसे जल्दी दो, मुझे बाजार करना है। जौहरी बोला—मेरे एक प्रश्नका उत्तर देते जाओ? तुम्हें यह मोती कहाँ मिला? यह तो इस समुद्रमें पाया ही नहीं जाता, यह तो मन्नारकी खाड़ीमें पैदा होता है और बड़ा ही लाजवाब कीमती मोती है, लो इसकी कीमत और खुशी-खुशी घर जाओ बच्चोंके लिये राशन लेकर, चाहो तो सबको नये कपड़े भी ले जाओ, ईद जो आनेवाली है। ईदकी खुशी अभीसे मनाना शुरू कर दो, खुदा तुमपर ज्यादा ही मेहरबान दिख रहा है।

अनवर बाजारसे राशन और सभी बच्चोंके लिये ईदकी खुशीमें नये कपड़े खरीदकर घर पहुँचा। सब घरवाले सामान देख और ईद-त्यौहारके कपड़े देख खूब खुश हुए। उन्होंने पूछा—अब्बा! ये पैसे कहाँसे आये? आज तो मछली मिली ही नहीं थी।

अनवर बोला—शायद खुदा हम सबपर मेहरबान है। उसने ही जालमें बेशकीमती मोती डाल दिया और उसीकी कीमतसे यह सब सामान खरीदा गया। बच्चोंने पूछा—अब्बा! कुछ हम लोगोंको भी बताओ। अनवरने कहा—सुनो, बच्चो! मैंने तुमलोगोंसे झूठ बोला कि मछलियाँ नहीं फँसीं, मछलियाँ तो फँसी थीं, पर मैंने उन सबपर किसी कारण रहमकर उन्हें वापस छोड़ दिया।

मेरे मनमें दया आयी कि उन्हें न पकड़ा जाय, यह सब खुदा सुन रहा था और उसने दया और प्रेमके कारण ही मेरे जालमें एक सीप डाल दी। उसमेंसे अनमोल मोती निकला, जिसकी कीमतसे घरमें ईदकी खुशियाँ आयीं और राशन-पानी आया।

बच्चो! दूसरोंपर दया और प्रेम हमेशा करते रहना चाहिये। किसी भी प्राणीको तकलीफ और कष्ट न दिया जाय, यह अल्लाहका सन्देश है, जिसपर पृथ्वीके सभी प्राणियोंको अमल करना चाहिये।

प्रेरक-प्रसंग—

सर्वश्रेष्ठ शासक

प्रियदर्शी सम्राट् अशोकके जन्मदिनका महोत्सव था। सभी प्रान्तोंके शासक एकत्र हुए थे। सम्राट्की ओरसे घोषणा हुई—'सर्वश्रेष्ठ शासक आज पुरस्कृत होगा।'

उत्तर-सीमान्तके प्रान्तपतिने बताया—'प्रादेशिक शासनकी आय मैं तीन गुनी कर चुका हूँ।'

दक्षिणके शासकने निवेदन किया—'राज्यकोषमें प्रतिवर्षकी अपेक्षा द्विगुण स्वर्ण मेरे प्रान्तने अर्पित किया है।'

पूर्वीय प्रदेशोंके अधिकारीने सूचना दी—'पूर्वीसीमान्तके उपद्रवियोंको मैंने कुचल दिया है। वे राज्यके विरुद्ध सिर उठानेका साहस फिर नहीं करेंगे।'

एक और प्रान्ताधिप उठे—'प्रजासे प्राप्त होनेवाली आय बढ़ गयी है, सेवकोंका व्यय घटा दिया है और आयके कुछ दूसरे साधन भी ढूँढ़ लिये गये हैं। कोषाध्यक्ष श्रीमान्‌को विवरण देंगे।'

अन्तमें उठे मगधके प्रान्तीय शासक। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'श्रीमान्! मैं क्या निवेदन करूँ। मेरे प्रान्तने प्रतिवर्षकी अपेक्षा आधेसे भी कम धन राज्यकोषमें दिया है। प्रजाका कर घटाया गया है। राज्यसेवकोंको कुछ अधिक सुविधा दी गयी है। प्रान्तमें सार्वजनिक धर्मशालाएँ तथा मार्गोंपर उपयुक्त स्थलोंमें कुएँ बनवाये गये हैं। अनेक स्थानोंपर रोगियोंकी चिकित्साके लिये चिकित्सालय खोले गये हैं और प्रजाके बालकोंको शिक्षित करनेके लिये पर्याप्त पाठशालाएँ खोली गयी हैं।'

सम्राट् सिंहासनसे उठे। उन्होंने घोषणा की—'मुझे प्रजाका शोषण करके प्राप्त होनेवाली स्वर्णराशि नहीं चाहिये। प्रजाके शूरोंकी उचित बातें सुने बिना उनका दमन करनेकी मैं निन्दा करता हूँ। प्रजाको सुख-सुविधा दी जाय, यही मेरी इच्छा है। मगधके प्रान्तीय शासक सर्वश्रेष्ठ शासक हैं। इस वर्षका पुरस्कार उनका गौरव बढ़ायेगा। अन्य प्रान्तोंके शासक उनसे प्रेरणा ग्रहण करें।'

ज्योतिर्लिंग-परिचय—

द्वादश ज्योतिर्लिंगोंके अर्चा-विग्रह

[गताङ्क ५ पृ०-सं० ३६ से आगे]

(६) श्रीभीमशंकर

भीमशंकर ज्योतिर्लिंग बम्बईसे पूर्व एवं पूनासे उत्तर

भीमा नदीके तटपर सह्याद्रिपर स्थित है। यहींसे भीमा नदी निकलती है। कहा जाता है कि भीमक नामक सूर्यवंशीय राजाकी तपस्यासे प्रसन्न होकर यहाँपर भगवान् शंकर दिव्य ज्योतिर्लिंगके रूपमें उद्भूत हुए थे। तभीसे वे भीमशंकरके नामसे प्रसिद्ध हो गये, किंतु शिवपुराणके अनुसार श्रीभीमशंकर ज्योतिर्लिंग असमके कामरूप जिलेमें ब्रह्मपुर पहाड़ीपर अवस्थित है। लोककल्याण, भक्तोंकी रक्षा और राक्षसोंका विनाश करनेके लिये भगवान् शंकरने वहाँ अवतार लिया था।* इस विषयमें शिवपुराणकी कथा है कि कामरूप देशमें कामरूपेश्वर नामक एक महान् शिवभक्त राजा राज्य करते थे। वे सदा भगवान् शिवजीके पार्थिव-पूजनमें तल्लीन रहते थे। वहाँ रावणके छोटे भाई कुम्भकर्णका कर्कटीसे उत्पन्न भीम नामक एक भयंकर महाराक्षस पुत्र रहता था, जो देवभक्तोंको पीड़ित करता रहता था। राजा कामरूपेश्वरकी शिवभक्तिकी ख्याति सुनकर वह उनके विनाशके लिये वहाँ आ पहुँचा और जैसे ही उसने ध्यानमग्न राजापर प्रहार करना चाहा तो उसकी तलवार भक्तपर न पड़कर पार्थिव लिंगपर पड़ी, भला भगवान्‌के भक्तका कोई अहित कर सकता है? उसी क्षण भक्तवत्सल भगवान् आशुतोष प्रकट हो गये और उन्होंने हुंकारमात्रसे दुष्ट भीम तथा उसकी सेनाको विनष्ट कर डाला। सर्वत्र आनन्द छा गया। भक्तका उद्धार हो गया। ऋषियों तथा देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने उस स्थानपर भीमशंकर नामसे प्रतिष्ठित होना स्वीकार किया।

(७) श्रीविश्वेश्वर

श्रीविश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग काशीमें श्रीविश्वनाथ नामसे प्रतिष्ठित है। इस पवित्र नगरीकी बड़ी महिमा है। भगवान् शंकरको यह काशीपुरी अत्यन्त प्रिय है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि इस पुरीका प्रलयकालमें भी लोप नहीं होता। भगवान् विश्वनाथ इसे अपने त्रिशूलपर धारण कर लेते हैं। यह अविमुक्त-क्षेत्र कहलाता है। यहाँ जो कोई भी शरीर छोड़ता है, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। काशीमें भगवान् विश्वनाथ मरनेवालोंके कानोंमें तारक मन्त्रका दान देते हैं। काशीमें भगवान् शंकर विश्वेश्वर या विश्वनाथके रूपमें अधिष्ठित रहकर प्राणियोंको भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं। विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंगकी पूजा, अर्चा, दर्शन एवं नामस्मरणसे सभी कामनाओंकी सिद्धि होती है और अन्तमें परमपुरुषार्थ मोक्षकी भी प्राप्ति हो जाती है।

काशीमें उत्तरकी ओर ॐकार-खण्ड, दक्षिणमें केदार-खण्ड एवं मध्यमें विश्वेश्वर-खण्ड है, इसी

* कुछ विद्वानोंका कहना है कि नैनीतालके उज्जनक नामक स्थानमें जो लिंग है, वही भीमशंकर ज्योतिर्लिंग है।

विश्वेश्वर-खण्डके अन्तर्गत बाबा विश्वनाथजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। श्रीकाशी विश्वनाथजीका मूल ज्योतिर्लिंग उपलब्ध नहीं है। प्राचीन मन्दिरको मूर्तिभंजक मुगल बादशाह औरंगजेबने नष्ट-भ्रष्टकर उस स्थानमें एक मस्जिदका निर्माण किया था। भगवान् विश्वेश्वरकी प्राचीन मूर्ति ज्ञानवापीमें पड़ी हुई बतलायी जाती है। नये विश्वनाथ-मन्दिरका निर्माण इससे थोड़ा-सा परे हटकर परम शिवभक्ता इन्दौरकी महारानी अहल्याबाईके

द्वारा किया गया है। पंजाबके महाराजा रणजीतसिंहने इस मन्दिरके गुम्बदपर सोनेकी पत्तरें चढ़वायी। इसके अतिरिक्त स्वामी श्रीकरपात्रीजीने गंगाके समीप नये विश्वनाथ-मन्दिरका निर्माण कराया, जहाँ दूरसे खड़े होकर दर्शन-पूजन करनेकी व्यवस्था है।

(८) श्रीत्र्यम्बकेश्वर

श्रीत्र्यम्बकेश्वर ज्योतिर्लिंग बम्बई प्रान्तके नासिक जिलेमें स्थित है। समीपवर्ती ब्रह्मगिरि नामक पर्वतसे पूतसलिला गोदावरी नदी निकलती है। उत्तर भारतमें पापविमोचिनी गंगाका जो माहात्म्य है, वही दक्षिणमें गोदावरीका है, जैसे गंगावतरणका श्रेय महातपस्वी भगीरथजीको है, वैसे ही गोदावरीका प्रवाह ऋषिश्रेष्ठ गौतमजीकी महान् तपस्याका फल है, जो उन्हें भगवान् आशुतोषसे प्राप्त हुआ था। भगीरथके महान् प्रयत्नसे भूतलपर अवतरित हुई माता जाह्नवी जैसे भागीरथी कहलाती हैं, वैसे ही गौतम ऋषिकी तपस्याके फलस्वरूप आयी हुई गोदावरीका नाम गौतमी गंगा है। बृहस्पतिके सिंह राशिमें आनेपर यहाँ बड़ा भारी कुम्भ-मेला लगता है और श्रद्धालुजन गौतमी गंगामें स्नान तथा भगवान् श्रीत्र्यम्बकेश्वरका दर्शनकर अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। शिवपुराणमें वर्णन आया है कि गौतम ऋषि तथा गोदावरी और सभी देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् शिवने इस स्थानपर वास करनेकी कृपा की और त्र्यम्बकेश्वर नामसे विख्यात हुए। इस ज्योतिर्लिंगके आविर्भावकी कथा सम्पूर्ण पापोंका शमन करनेवाली है, जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

प्राचीन कालमें गौतम नामक एक परमर्षि थे और अहल्या उनकी पत्नी थीं। दोनों परम धार्मिक तथा सदाचारी थे, तपस्या और लोकोपकार करना ही उनका सर्वस्व था। वे दक्षिणमें ब्रह्मगिरिमें रहते थे। वहाँ महर्षि गौतमने दस हजार वर्षोंतक घोर तपस्या की। एक समय उस क्षेत्रमें सौ वर्षतक बड़ा भयानक अवर्षण हो गया। अन्नादिके अभावमें सर्वत्र अकालकी विभीषिका छा गयी। उस समय सभी प्राणी उस क्षेत्रसे अन्यत्र जाकर बसने लगे। परोपकारी गौतम ऋषिने वरुणदेवको प्रसन्नकर एक गर्तको दिव्य जलसे परिपूर्ण करा लिया और उन्होंने अखण्ड दिव्य जलके प्रभावसे

भूमिमें अन्न भी उपजा लिया। यह समाचार जानकर ऋषि-महर्षि तथा सभी प्राणी पुन: उस स्थानमें आकर आनन्दसे रहने लगे।

संयोगसे एक बार ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंने जल लेनेके प्रसंगमें ऋषिपत्नी अहल्यासे द्वेष कर लिया और उन्होंने अपने पतिजनोंको इस बातके लिये तैयार भी करा लिया कि जिस-किसी उपायसे भी इन गौतम ऋषि तथा अहल्याको इस क्षेत्रसे बाहर कर दिया जाय। उनके पतियोंने गणेशजीकी आराधना की। भक्तपराधीन गणेशजी प्रकट हुए और उनके दुर्भावको समझते हुए उन्हें इस दुष्कार्यके लिये रोका भी, किंतु अन्तमें वे 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

इस कार्यकी पूर्तिके निमित्त गणेशजी एक दुर्बल गौका रूप धारणकर गौतम ऋषिके उस क्षेत्रमें पहुँच गये, जहाँ जौ और धान उगे थे। वह गौ काँप रही थी। वह जौ और धान खाने लगी। दैववश गौतम वहाँ पहुँचे और तिनकोंकी मुट्ठीसे उसे हटाने लगे। तृणोंके स्पर्शसे गौ पृथिवीपर गिर पड़ी और ऋषिके सामने ही मर गयी। उस समय छिपे हुए गौतमके विरोधी अन्य ऋषियोंने एवं उनकी पत्नियोंने कहा कि 'गौतमने अशुभ कर्म कर दिया है। इसके द्वारा गौकी हत्या हो गयी है। इसका मुँह देखना पाप है। अत: इसे इस स्थानसे बहिष्कृत कर दिया जाय।' यह कहकर उन्होंने उन्हें वहाँसे बहिष्कृत कर दिया। गौतमको अत्यन्त अपमानित होना पड़ा। गौतम ऋषिने उन्हीं लोगोंसे इसका प्रायश्चित्त पूछा—'आपलोगोंको मुझपर कृपा करनी चाहिये। आप इस पापको दूर करनेका उपाय बतायें। मैं उसे करूँगा।' उन्होंने बताया कि 'आप पूरी पृथिवीकी तीन बार परिक्रमा करें, मासव्रत करें, इस ब्रह्मगिरिपर सौ बार घूमें, तब आपकी शुद्धि होगी अथवा आप गंगाजल लाकर स्नान करें, एक करोड़ पार्थिव शिवलिंग बनाकर शंकरकी पूजा करें, पुन: गंगा-स्नान करें और सौ घड़ोंसे पार्थिव शिवलिंगको स्नान करायें तो उद्धार होगा।'

गौतम ऋषिने इस प्रकार कठोर प्रायश्चित्त किया। भगवान् शिव प्रकट हो गये। उन्होंने गौतमसे कहा—'महामुने! मैं आपकी भक्तिसे प्रसन्न हूँ। आप वर माँगिये।' गौतमने भगवान् शिवकी स्तुति की और हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए कहा—'देव! आप मुझे निष्पाप कीजिये।' शिवजीने कहा—'मुने! तुम धन्य हो। तुम सदा निष्पाप हो। तुम्हारे साथ तो दुष्टोंने छल किया था। जिन दुरात्माओंने तुम्हारे साथ उपद्रव किया था, वे स्वयं दुराचारी, पापी एवं हत्यारे हैं।' शिवजीकी बात सुनकर गौतम आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने कहा कि 'वे लोग मेरा बड़ा ही उपकार किये हैं। यदि वे ऐसा न करते तो कदाचित् आपका यह दुर्लभ दर्शन न हुआ होता।' तदनन्तर गौतम ऋषिने शिवजीसे गंगा माँगी। शिवजीने गंगासे कहा—'गंगे! तुम गौतम ऋषिको पवित्र करो।' गंगाने कहा कि 'मैं गौतम एवं उनके परिवारको पवित्र करके अपने स्थानपर चली जाऊँगी,[1] किंतु भगवान् शिवने गंगाको लोकोपकारार्थ वैवस्वत मनुके अट्ठाईसवें कलियुगतक रहनेके लिये आदेश दिया।[2] गंगाने उनकी आज्ञाको स्वीकार किया और भगवान् शिवको भी अपने सभी परिवारके साथ रहनेके लिये प्रार्थना की। इसके बाद सभी ऋषिगण एवं देवगण गंगा, गौतम और शिवकी जय-जयकार करने लगे। देवोंके प्रार्थना करनेपर भगवान् शिव वहीं गौतमी-तटपर 'त्र्यम्बकेश्वर ज्योतिर्लिंग' के रूपमें प्रतिष्ठित हो गये। यह त्र्यम्बक नामक ज्योतिर्लिंग सभी कामनाओंको पूर्ण करता है। यह महापातकोंका नाशक और मुक्तिप्रदायक है। जब सिंह-राशिपर बृहस्पति आते हैं, तब इस गौतमी-तटपर सकल तीर्थ, देवगण और नदियोंमें श्रेष्ठ गंगाजी पधारती हैं तथा महाकुम्भ पर्व होता है।

[क्रमश:]

---

१. ऋषिं तु पावयित्वाहं परिवारयुतं प्रभो। गमिष्यामि निजस्थानं वच: सत्यं ब्रवीमि ह॥ (श्रीशिवमहापुराण, कोटिरुद्रसंहिता २६। २७)

२. त्वया स्थातव्यमत्रैवाव्रजेद्यावत्कलिर्युगः। वैवस्वतो मनुर्देवि ह्यष्टाविंशत्तमो भवेत्॥ (श्रीशिवमहापुराण, कोटिरुद्रसंहिता २६। २९)

रामकथा—

महर्षि वसिष्ठ—इक्ष्वाकुवंशके कुलगुरु

(श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र')

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें ही ब्रह्माके प्राणोंसे उत्पन्न उन प्रारम्भिक दस मानसपुत्रोंमें-से वे एक हैं, जिनमें-से देवर्षि नारदके अतिरिक्त शेष नौ प्रजापति हुए। १. मरीचि, २. अत्रि, ३. अंगिरा, ४. पुलस्त्य, ५. पुलह, ६. क्रतु, ७. भृगु, ८. वसिष्ठ, ९. दक्ष और १०. नारद—ये ब्रह्माके दस मानसपुत्र हैं। इनसे पहले—सबसे पहले ब्रह्माजीके मनसे—संकल्पसे कुमारचतुष्टय—१. सनक, २. सनन्दन, ३. सनातन और ४. सनत्कुमार उत्पन्न हुए थे; किंतु इन चारोंने प्रजा-सृष्टि अस्वीकार कर दी। सदा पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालक ही रहते हैं। इन चारोंकी अस्वीकृतिके कारण ब्रह्माजीको क्रोध आया तो उनके भ्रूमध्यसे भगवान् नीललोहित रुद्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार सनकादि कुमार तथा रुद्र वसिष्ठजीके अग्रज हैं।

भगवान् ब्रह्माने अपने नौ पुत्रोंको प्रजापति नियुक्त किया। इन लोगोंको प्रजाकी सृष्टि, संवर्धन तथा संरक्षणका दायित्व प्राप्त हुआ। केवल नारदजी नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने रहे। इन नौ प्रजापतियोंमें-से प्रथम मरीचिके पुत्र हुए कर्दमजी। कर्दमने स्वायम्भुव मनुकी पुत्री देवहूतिका पाणिग्रहण किया। कर्दमजीके नौ पुत्रियाँ हुईं और पुत्रके रूपमें भगवान् कपिलने उनके यहाँ अवतार ग्रहण किया। कर्दमने अपनी पुत्रियोंका विवाह ब्रह्माजीके मानसपुत्र प्रजापतियोंसे किया। वसिष्ठजीकी पत्नी अरुन्धतीजी महर्षि कर्दमकी कन्या हैं।

भगवान् ब्रह्माने सृष्टिके प्रथम कल्पमें ही वसिष्ठजीको आदेश दिया—'वत्स! तुम सूर्यवंशका पौरोहित्य सम्हालो।'

जैसे विश्व व्यवस्थापूर्वक चलता है, वैसे ही समाज भी व्यवस्थापूर्वक ही चलता है। यदि समाजको सुदृढ़ रखना है तो उसकी व्यवस्था सुदृढ़ रहनी चाहिये। यह व्यवस्था तभी सुदृढ़ रहेगी, जब वह समाजके सदस्योंकी शक्ति एवं स्वभावको ध्यानमें रखकर बनी हो। वैदिक-धर्मानुयायी मनुष्य जीवनमें धर्मको प्रधान मानता है, किंतु अर्थोपार्जन और परिवारके रक्षण-पोषणमें लगा गृहस्थ धार्मिक दायित्वोंको स्मरण रखे और प्रमादहीन होकर उनका ठीक समयपर निर्वाह करता रहे, यह सम्भव नहीं है। न यही सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति वेद एवं कर्म-काण्डका भी निष्णात बने और दूसरी विद्याओंका भी। इसलिये समाजको पुरोहितोंकी आवश्यकता होती है।

पुरोहितका अर्थ है कि वह अपने यजमानका हित पहलेसे सोच लेता है। उसके अनुसार समयपर यजमानको सावधान करके उससे धार्मिक दायित्व सम्पन्न कराता है। वेद-शास्त्र एवं वैदिक कर्मोंका वह विद्वान् होना चाहिये।

वसिष्ठजीको ब्रह्माजीकी आज्ञा सुनकर प्रसन्नता नहीं हुई। उन्होंने प्रार्थना की—'पौरोहित्य कर्म शास्त्र-निन्दित है; क्योंकि इसमें लगे ब्राह्मणको पराश्रित रहना पड़ता है। वह आत्मचिन्तनके स्थानपर यजमान और यजमानके हित-चिन्तनमें लगे रहनेको बाध्य होता है। उसकी आजीविका यजमानपर निर्भर है, अतः यजमानकी प्रसन्नताका उसे ध्यान रखना पड़ता है। यजमानमें यदि कृपणता, अश्रद्धा आ जाय तो पुरोहितमें चाटुकारी, लोभ, छल आदि दोष आये बिना नहीं रह सकते। ब्राह्मणको सन्तुष्ट, तपस्वी होना चाहिये। तब वह परायेका भार लेकर परमुखापेक्षी क्यों बने?'

ब्रह्माजीने समझाया—'तपस्यासे, एकान्त चिन्तन—ध्यानसे जिसको पानेकी कामना की जाती है, वे परात्पर पुरुष इस सूर्यवंशमें आगे उत्पन्न होनेवाले हैं। तुम्हें उनका सान्निध्य, उनका आचार्यत्व प्राप्त होगा सूर्यवंशका पौरोहित्य स्वीकार करनेसे।'

वसिष्ठजीने यह सुना तो सहर्ष अपने पिता सृष्टिकर्ताका आदेश स्वीकार कर लिया। वे सूर्यवंशके पुरोहित बन गये, लेकिन सूर्यवंशका यह पौरोहित्य इस

वैवस्वत मन्वन्तरमें आकर सीमित हो गया।

भगवान् सूर्यके पुत्र श्राद्धदेव—मनुके दस पुत्र थे। इन सबके पुरोहित वसिष्ठजी ही थे। एक बार उनमें-से मनु-पुत्र निमिने जो भारतके पूर्वोत्तर प्रदेशके अधिपति थे, जिसका नाम पीछे मिथिला पड़ा, वसिष्ठजीसे प्रार्थना की—'मेरी इच्छा एक महायज्ञ करनेकी है। आप उसे सम्पन्न करा दें।'

वसिष्ठने कहा—'वत्स! तुम्हारा संकल्प पवित्र है, किंतु देवराज इन्द्र एक यज्ञ करने जा रहे हैं। उसमें मेरा वरण हो चुका है। मैं अमरावती जा रहा हूँ। इन्द्रका यज्ञ समाप्त होनेपर लौटकर तुम्हारा यज्ञ करा दूँगा।'

निमिने कुछ कहा नहीं। महर्षि वसिष्ठ स्वर्ग चले गये इन्द्रका यज्ञ कराने। स्वाभाविक था कि उनको लौटनेमें अनेक वर्ष लगते, क्योंकि देवताओंका एक दिन-रात मनुष्योंके एक वर्षके बराबर होता है। गुरुदेवके शीघ्र लौटनेकी आशा नहीं थी। निमिके मनमें आया—'जीवनका कोई ठिकाना नहीं है। मृत्यु किसी क्षण आ सकती है। अत: विचारवान्‌को शुभ संकल्प अविलम्ब पूरा करना चाहिये। अच्छे संकल्पको दूसरे समयपर करनेके लिये नहीं छोड़ना चाहिये।

महर्षि वसिष्ठको आनेमें विलम्ब होता देखकर निमिने दूसरे विद्वान् ब्राह्मणको पुरोहित बनाया। ये पुरोहित थे महर्षि यमदग्नि, भगवान् परशुरामके पिता। निमिने उनके आचार्यत्वमें यज्ञ प्रारम्भ कर दिया।

महर्षि वसिष्ठ इन्द्रका यज्ञ पूर्ण होनेपर लौटे तो महाराज निमिका यज्ञ चल रहा था। यह देखकर उन्हें लगा कि निमिने मेरी अवज्ञा की है। उन्होंने शाप दे दिया—'अपनेको पण्डित मानकर मेरा तिरस्कार करनेवाले निमिका शरीर नष्ट हो जाय।'

निमिने भी शाप दिया—'लोभवश धर्मको विस्मृत कर देनेवाले आपका भी देहपात हो जाय!'

भूल दोनों ओरसे हुई थी और वह शापके रूपमें बढ़ गयी। महाराज निमिको प्रारम्भमें कह देना था कि वे लम्बे समयतक प्रतीक्षा नहीं करना चाहते।

महर्षि वसिष्ठने भी यह तथ्य ध्यान देनेयोग्य नहीं माना कि अपना आचार्य या पुरोहित किसी कारण अनुपलब्ध हो तो यजमान कर्म-विशेषके लिये दूसरे ब्राह्मणको आचार्य वरण कर सकता है। यह दूसरा ब्राह्मण केवल उस कर्मके पूर्ण होनेतक आचार्य रहता है।

निमिका शरीरान्त हो गया। इसके बाद उनके शरीरका ऋषियोंद्वारा मन्थन करनेसे एक बालककी उत्पत्ति हुई, जो 'मिथि' और 'विदेह' कहलाया। महर्षि वसिष्ठने आसन लगाया और योगधारणाके द्वारा अपने शरीरको भस्म कर दिया। थोड़े समय पश्चात् भगवान् ब्रह्माके यज्ञमें उर्वशीको देखकर मित्र (सूर्य) और वरुणका रेत:स्खलन हो गया। उन दोनों लोकपालोंका सम्मिलित वीर्य यज्ञीय कलशपर पड़ा। उसका जो भाग कलशपर पड़ा था, उससे कुम्भज अगस्त्यजी उत्पन्न हुए और जो भाग नीचे गिरा, उससे वसिष्ठजीने पुन: शरीर प्राप्त किया। इसलिये वसिष्ठजीको मैत्रावरुणि भी कहते हैं।

दूसरा शरीर प्राप्त करके वसिष्ठजीने पूरे सूर्यवंशका पौरोहित्य पद त्याग दिया। वे केवल इक्ष्वाकुवंशके पुरोहित बने रहे। अयोध्याके समीप ही उन्होंने अपना आश्रम बना लिया। दूसरी मुख्य बात यह हुई कि वह नवीन देहकी प्राप्तिके साथ महर्षि वसिष्ठ परम शान्त हो गये। किसीको भी क्रोध करके शाप नहीं देना चाहिये, यह उन्होंने अपना व्रत बना लिया। अत: पीछे विश्वामित्रके द्वारा बहुत अनर्थ करनेपर भी वे शान्त ही बने रहे।

महर्षि वसिष्ठ ब्रह्माजीके मानसपुत्र होनेसे—मित्र एवं वरुणके वंशोद्भव होनेसे भी दिव्य देह हैं। वसिष्ठजी कल्पान्तजीवी अमर हैं। इस मन्वन्तरमें सप्तर्षियोंमें उनका स्थान है।

महाराज गाधिके पुत्र विश्वामित्रजी भगवान् परशुरामके पिता यमदग्निके मामा लगते हैं। महाराज गाधिकी पुत्री सत्यवतीका विवाह भृगुवंशीय महर्षि ऋचीकसे हुआ

था। ऋचीकके पुत्र यमदग्नि हुए।

जब विश्वामित्र राजा हो गये, तब सेनाके साथ वे एक बार आखेट करते महर्षि वसिष्ठके आश्रमके समीप पहुँच गये। वसिष्ठजीने उनको आतिथ्य-ग्रहणके लिये आमन्त्रित किया और समूची सेनाका भली प्रकार सत्कार किया। विश्वामित्रने देखा कि नानाप्रकारके भोज्यपदार्थ वसिष्ठकी होमधेनु नन्दिनी प्रकट कर रही है, अत: विदा होते समय उन्होंने उस गौको बलपूर्वक ले जाना चाहा। उन्होंने तो वसिष्ठसे गौ माँगनेकी शिष्टता भी नहीं की।

जब ब्रह्मर्षि वसिष्ठने देखा कि विश्वामित्र बल-प्रयोग करना चाहते हैं तो वे अपना कुशोंसे बना ब्रह्मदण्ड लेकर अपनी गौके पास खड़े हो गये। वह ब्रह्मदण्ड अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा। विश्वामित्र या उनके सैनिक वसिष्ठके समीप जानेका साहस नहीं कर सके। उनके सब बाण तथा दूसरे शस्त्र जो प्रयोग किये गये, ब्रह्मदण्डसे टकराकर भस्म बन गये।

'क्षत्रियबलको धिक्कार है! ब्रह्मबल ही सच्चा बल है!' यह कहकर विश्वामित्र वहाँसे लौटे। उन्होंने इसी जीवनमें ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया। राज्य पुत्रोंको देकर वे वनमें तप करने चले गये।

अत्यन्त कठिन तप करके विश्वामित्रजीने ब्रह्माको प्रसन्न कर लिया। जब हंसवाहन सृष्टिकर्ताने आकर वरदान माँगनेको कहा तो विश्वामित्रने माँगा—'मैं इसी शरीरमें ब्रह्मर्षि हो जाऊँ।'

ब्रह्माजी बोले—'गायत्रीका दर्शन करके तुम ऋषि तो हो गये हो, किंतु ब्रह्मर्षि तब होगे जब वसिष्ठ तुम्हें ब्रह्मर्षि स्वीकार कर लें।'

विश्वामित्रजी वसिष्ठजीसे मिलने गये तो वसिष्ठने उनको 'राजर्षि' कहकर पुकारा। क्रोधमें आकर विश्वामित्रने फिर तपस्या करके अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त किये, किंतु वे दिव्यास्त्र वसिष्ठजीको मार नहीं सके। वे भी वसिष्ठके ब्रह्मदण्डसे टकराकर तेजहीन हो गये।

विश्वामित्र पुन: तपमें लगे, किंतु अप्सरा मेनकाने उन्हें मोहित करके विचलित कर दिया। उससे एक पुत्री शकुन्तला हो जानेपर विश्वामित्र सावधान हुए। इस बार तप करके वे नवीन सृष्टि ही बनाने लगे। अनेक अन्न, पशु, वृक्षादि उन्होंने बनाये। जब मनुष्य बनाने लगे, तब ब्रह्माजीने आकर रोका—'यह प्रयास बन्द करो। वसिष्ठकी स्वीकृतिके बिना तुम ब्रह्मर्षि नहीं हो सकते।'

ब्रह्माजीने विश्वामित्रद्वारा बनाये पदार्थोंको अपनी सृष्टिका अंग बना लिया। सृष्टिकर्ताके जानेपर क्रोधमें भरे विश्वामित्रने एक राक्षसको उकसाया। उसने वसिष्ठके सौ पुत्रोंमें-से सभीका भक्षण कर लिया।

सभी पुत्रोंके मारे जानेपर महर्षि वसिष्ठको अत्यन्त शोक हुआ, किंतु उसी समय उनके ज्येष्ठ पुत्र शक्तिकी पत्नी अदृश्यन्तीके गर्भमें स्थित शिशुने एक ऋचा (ऋग्वेदके मन्त्र)-का उच्चारण किया। जब पता लगा कि पुत्रवधूके गर्भस्थ शिशुने ऋचा बोली है, तब वसिष्ठजी पत्नी तथा पुत्रवधूके साथ आश्रम लौट आये। वह गर्भस्थ बालक उत्पन्न होनेपर पराशर नामसे प्रसिद्ध हुआ।

यह सब हुआ, इतना दु:ख, सब पुत्र मारे गये, किंतु महर्षि वसिष्ठको क्रोध नहीं आया। उन्होंने विश्वामित्रको न शाप दिया, न उनके प्रति द्वेष मनमें आने दिया। दूसरी ओर विश्वामित्रको इतना विनाश करके भी कोई लाभ नहीं हुआ। वसिष्ठ उन्हें ब्रह्मर्षि कहनेको उद्यत नहीं थे।

इस कारण अत्यन्त क्षुब्ध विश्वामित्रने छिपकर वसिष्ठको मार डालनेका निश्चय किया। वे अस्त्र-शस्त्र लेकर रात्रिमें वसिष्ठके आश्रम आये और आघातका अवसर पानेकी प्रतीक्षामें लताकुंजमें छिपकर बैठ गये।

चाँदनी रात्रि थी। महर्षि वसिष्ठ रात्रिके प्रथम प्रहरमें पत्नीके साथ कुटीसे बाहर एक वेदीपर बैठे थे। देवी अरुन्धतीने कहा—'कैसी निर्मल धवल चन्द्रिका है।'

वसिष्ठ—'यह दिशाओंको वैसे ही उज्ज्वल कर रही है, जैसे आजकल विश्वामित्रका तप:तेज।'

छिपे बैठे विश्वामित्रने सुना और उनका हृदय पुकार उठा—'एक यह महापुरुष है कि मेरे-जैसे शत्रुकी—उस शत्रुकी जो इसके सौ पुत्रोंका हत्यारा है, एकान्तमें पत्नीसे प्रशंसा कर रहा है और एक मैं अधम हूँ कि रात्रिमें धोखेसे उसकी हत्या करने आया हूँ। धिक्कार है मुझे!'

विश्वामित्रने सब अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और दौड़कर वसिष्ठके चरणोंपर 'क्षमा! क्षमा!' पुकारते गिर पड़े। महर्षि वसिष्ठने आदरपूर्वक उन्हें उठाकर हृदयसे लगाते हुए कहा—'ब्रह्मर्षि विश्वामित्र! आप यहाँ इस समय?'

विश्वामित्र निहाल हो गये। उनके प्राण परितृप्त हो गये। रुदनका वेग शान्त होनेपर उन्होंने हाथ जोड़कर पूछा—'भगवन्! आपने मुझे सदा राजर्षि कहा, आज क्या हो गया कि आपके श्रीमुखसे मुझे ब्रह्मर्षि सम्बोधन प्राप्त हुआ?'

वसिष्ठ—'आप ऋषि तो हैं ही, लेकिन शस्त्र-ग्रहण और अभीष्टको शस्त्र-बलसे प्राप्तिका प्रयत्न क्षत्रियका धर्म है। जबतक आप उस रूपमें थे, मैं आपको राजर्षि न कहता तो कहता क्या? उसे त्यागकर आपने जब यह ब्राह्मणोचित क्षमा धारण की, ब्रह्मर्षि तो हो ही गये। मैंने आपको ब्रह्मर्षि कहकर कोई आपपर उपकार तो किया नहीं।'

तभीसे विश्वामित्रजीने अस्त्र-त्याग कर दिया। वे भी किसीको शाप न देनेका व्रत लेकर परम शान्त हो गये। वे गंगा-तटपर आश्रम बनाकर रहने लगे।

परम तपस्वी, परम शान्त, अमित तेजा ब्रह्मर्षि वसिष्ठ रघुकुलके—इक्ष्वाकुवंशके कुलाचार्य रहे—तबतक रहे, जबतक मर्यादा पुरुषोत्तमने अवतार धारण करके पृथ्वीको धन्य किया। श्रीरघुनाथके साकेत पधारनेपर वसिष्ठजी पत्नीके साथ अपने सप्तर्षिवाले धाममें जाकर निवास करने लगे। कुशका पौरोहित्य तो वसिष्ठजीके पौत्र महर्षि पराशरने किया।

महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्म॥

जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेशद्वारा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति करानेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे रहित, आकाशसदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्योंके लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्मल, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियोंके साक्षी, समस्त भावोंसे परे तथा तीनों गुणोंसे रहित हैं, उन परब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं। [**योगवासिष्ठ**]

संत-चरित—
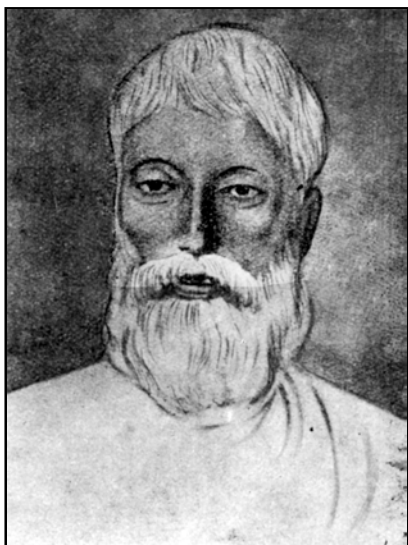
संत नाग महाशय

डॉक्टर दुर्गाचरण नाग महाशयका जन्म पूर्वबंगालमें नारायणगंजके पास देवभोग नामक एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। आपके पिताका नाम दीनदयाल और माताका नाम त्रिपुरासुन्दरी था। नाग महाशयकी माता इनको आठ वर्षका छोड़कर ही मर गयी थीं। तबसे इनकी बुआ भगवतीने इनका पालन-पोषण किया था। नाग महाशयके पिता कलकत्तेमें नमकके व्यापारी श्रीराजकुमार हरिचरण पाल चौधरी महोदयके यहाँ नौकरी करते थे। पिताके साथ नाग महाशय भी कलकत्ते आ गये और कलकत्तेमें इन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष 'कैम्बल मेडिकल स्कूल' में डाक्टरी पढ़ी और फिर प्रसिद्ध होमियोपैथिक डाक्टर भादुरी महाशयसे आपने होमियोपैथीकी शिक्षा ग्रहण की। लड़कपनसे ही नाग महाशयकी वृत्ति वैराग्यकी ओर थी। वे कलकत्तेमें अकेले काशीमित्र श्मशानघाटमें चले जाते और मुर्दोंको जलते देखकर जगत्‌की नश्वरतापर विचार करते। विभिन्न संन्यासियोंसे मिला करते तथा एकान्तमें ध्यान किया करते थे।

बुआके मरनेपर उनके मनमें बड़ा वैराग्य हुआ और भोगोंसे बड़ी ही निराशा हो गयी। वे रात-दिन विचारमग्न रहने लगे। आखिर पिताके आग्रहसे उन्होंने डाक्टरी शुरू की और कुछ ही दिनोंमें बहुत अच्छे डाक्टर हो गये। परन्तु उनके अपने व्यवसायमें बाह्याडम्बर कुछ भी नहीं था। न वे कोट-पतलून पहनते थे, न गाड़ी-घोड़ेपर ही कहीं जाते थे। दूरसे बुलाहट आनेपर भी पैदल ही जाते। पिताने एक दिन यह समझकर कि डाक्टरकी-सी पोशाक होनेसे लोगोंका विश्वास अधिक बढ़ेगा, पुत्रके लिये कोट-पतलून इत्यादि बनवाकर ला दिये। नाग महाशयने कहा कि 'पिताजी! मुझे पोशाककी आवश्यकता नहीं है, आप व्यर्थ ही ये कपड़े खरीदकर लाये, इन रुपयोंसे किसी गरीबकी सेवा की जाती तो बहुत उत्तम होता।' इनकी विचित्र हालत थी। मुहल्लेमें कहाँ कौन बीमार है, किसके पास खानेको नहीं है? कौन दुखी है? नाग महाशय इसीकी खोजमें रहते और अपनी शक्तिके अनुसार सेवा करनेसे कभी न चूकते। गरीबोंसे विजिट फीस तो लेते ही नहीं, दवाईके दाम भी नहीं लेते। पथ्यका खर्च भी अपने पाससे दे आते। रास्तेमें पड़ा कोई निराश्रय रोगी मिल जाता तो उसे अपने घर लाकर उसका इलाज करते।

एक दिन एक गरीब रोगीके घर जाकर आपने देखा कि उसकी सेवा करनेवाला कोई नहीं है तो स्वयं चार घंटे वहाँ ठहरकर उसको दवा देते रहे और सेवा करते रहे। रातको फिर उसे देखने गये। जाड़ेका मौसम, टूटी-फूटी झोंपड़ी और रोगीके बदनपर ओढ़नेको एक कपड़ा नहीं, यह देखकर नाग महोदयका हृदय पिघल गया। उन्होंने अपनी भागलपुरी ऊनी चद्दर उतारकर रोगीको उढ़ा दी और धीरेसे निकल चले। सबेरे रोगीने कृतज्ञता प्रकट की, तब बोले, 'आपको उस समय मुझसे अधिक जरूरत थी, इसलिये चद्दर आपको उढ़ा दी थी, आप कोई विचार न करें।'

एक दिन एक रोगीके घर जाकर आपने देखा कि वह जमीनपर लेट रहा है। उसी वक्त घरसे अपने शयनकी चौकी मँगाकर उसपर रोगीको सुला दिया। रोगीको इससे आराम मिला। उसे आराम मिला देखकर नाग महाशयको बड़ी प्रसन्नता हुई। ***'परदुख दुखी सुखी परसुखतें'***—यह उनका व्रत था।

एक छोटे बच्चेको हैजा हो गया था। नाग

महाशय दिनभर उसकी चिकित्सामें लगे रहे, परंतु बच्चा मर गया। घरवालोंने सोचा था, आज दिनभरकी बहुत बड़ी फीस लेकर डाक्टर साहब घर लौटेंगे। शामको देखा गया आप खाली हाथ रोते हुए घर लौटे और कहने लगे, 'बेचारे गृहस्थके एक ही बच्चा था, किसी तरह बच नहीं सका। उसका घर सूना हो गया।' उस रातको इन्होंने जलतक ग्रहण नहीं किया।

एक बार अपने पिताके मालिक पाल बाबूके घर किसी स्त्रीको हैजा हो गया और नाग महाशयकी चिकित्सासे वह आश्चर्यजनक रीतिसे शीघ्र ही आरोग्य हो गयी। स्त्रीके घरवालोंपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा, वे प्रसन्न होकर एक चाँदीके कटोरेमें रुपये भरकर नाग महाशयको देने लगे। नाग महाशय तो पिताके मालिक समझकर इनके घरसे फीस भी नहीं लिया करते थे, उन्होंने आज भी कुछ नहीं लिया। बाबूने समझा कि पुरस्कार थोड़ा है, इसलिये नाग महाशय शायद नहीं लेते, उन्होंने पचास रुपये और रखकर नाग महाशयको देना चाहा। इन्होंने कहा कि 'दवाके दाम और मेरी फीस सब मिलाकर बीस रुपयेसे अधिक नहीं होते। मैं इतना कैसे ले सकता हूँ।' बहुत हठ करनेपर बीस रुपये लेकर चल दिये।

पुत्रकी करतूतोंसे पिता दीनदयाल नाराज तो थे ही, इस घटनाको सुनकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने नाग महाशयको बुलाकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया। नाग महाशयने कहा, 'पिताजी, आपहीने तो मुझको धर्मपर रहनेका उपदेश दिया था। मैं जान-बूझकर कैसे अधिक रुपये लेता? मैंने जो दवाइयाँ दी हैं, उनके दाम अधिक-से-अधिक छ: रुपये होंगे और सात दिनकी फीसके चौदह रुपये हुए, इसीलिये मैं बीस रुपये ले आया। अधिक लेनेसे तो अधर्म ही होता! भगवान् सत्यस्वरूप हैं, मिथ्या व्यवहारसे मनुष्यके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।'

नाग महाशयकी जैसी प्रसिद्धि हो गयी थी, उसमें वे चाहते तो बहुत धन कमा सकते थे, परंतु उन्होंने इस तरफ ध्यान ही नहीं दिया। किसीसे भी वे फीस चाहते नहीं, जो देता सो ले लेते। कोई उधार माँगने आता तो ना नहीं करते। एक पैसातक पास होता तो वह भी दे डालते। किसी-किसी दिन स्वयं दो-एक पैसेका भूँजा लेकर दिन काटते, घरमें रसोई नहीं बनती परंतु गरीबको देनेमें अपनी दशाका विचार कभी नहीं करते। कपट, दम्भ, अधर्म और बनावटसे नाग महाशयको बड़ी घृणा थी, सभीमें वे भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करते।

नाग महाशयके घर कोई आ जाता तो उसे बगैर खिलाये नहीं लौटने देते। नारायण मानकर अतिथिसेवा करते। एक दिन नाग महाशयके पेटमें शूलका दर्द हो रहा था। दर्दके मारे बीच-बीचमें वे बेहोश हो जाते थे। घरमें कुछ था नहीं। अकस्मात् आठ-दस अतिथि आ गये। उसी बीमारीमें आप बाजार गये चावल लेने। कुलीके सिरपर सामान रखकर न लानेका आपका नियम था। चावलकी गठरी सिरपर रखकर लाते समय रास्तेमें पेटका दर्द बढ़ गया। आप गिर पड़े और बोले, 'हाय! हाय! यह क्या हुआ? घरमें नारायण उपस्थित हैं, उनकी सेवामें देर हो रही है। धिक्कार है, इस हाड़-मांसके चोलेको, जो आज इससे नारायणकी सेवा नहीं हो रही है।' दर्द कुछ कम होनेपर घर आये और अतिथियोंको प्रणामकर कहने लगे, 'मैं बड़ा अपराधी हूँ, आज आपके भोजनमें बड़ा विलम्ब हो गया!'

वर्षाकालमें एक दिन नाग महाशयके घर दो अतिथि आ गये। बादल घिरे थे और झड़ी लग रही थी। नाग महाशयके मकानमें एक ही कमरा ऐसा था, जिसमें पानी नहीं गिरता था, उसीमें महाशय सोते थे। अतिथियोंको भोजन करानेके बाद आपने अपनी धर्मशीला पत्नीसे कहा, 'आज हमलोगोंका परम सौभाग्य है, जो साक्षात् नारायण ही अपने घर पधारे हैं, क्या उनके लिये जरा-सा कष्ट नहीं सह लिया जायगा? आओ हमलोग दीवालके नीचे बैठकर भगवान्‌का नाम लें और इनको अंदर सोने दें।' कहना नहीं होगा कि साध्वी पत्नीने पतिकी बातको प्रसन्नतासे मान लिया और अतिथियोंको यह बात मालूम ही नहीं होने पायी!

नाग महाशय अपने लिये दूसरोंसे काम करवाना नहीं सह सकते थे, इसलिये वे कभी नौकर नहीं रखते थे। अतएव वे जब घरमें रहते, तब घरकी मरम्मत होना भी मुश्किल होता था। नाग महाशय जब बाहर जाते, तब

पीछेसे उनकी पत्नी घरकी मरम्मत करवातीं। एक बार नाग महाशय बहुत दिनोंतक घरमें रहे। छप्परोंकी मरम्मत न होनेसे सब बेकाम हो गये। उनकी पत्नी ने घर छानेके लिये एक थवई (छानेवाला) नियुक्त किया। थवईके घरमें आते ही नाग महाशयको उसकी सेवाकी चिन्ता लगी! उसे आपने चिलम भर दी और हवा करने लगे। किसी तरह उनसे छूटकर वह बेचारा ऊपर चढ़कर छाने लगा। नाग महाशयने बार-बार नीचे उतर आनेकी प्रार्थना की। जब वह नहीं उतरा, तब इनसे नहीं रहा गया और ये रोकर कहने लगे, 'हे भगवन्! मेरे सुखके लिये दूसरे आदमीको इतना कष्ट हो रहा है और मैं खड़ा-खड़ा देख रहा हूँ, मुझको धिक्कार है!' इनकी व्याकुलता देखकर बेचारा थवई नीचे उतर आया। नाग महाशयने प्रसन्न होकर उसके लिये फिर एक चिलम भर दी और हवा करने लगे और थोड़ी देर बाद उसे दिनभरकी मजदूरी देकर बिदा किया!

नाग महाशय कभी नावपर चढ़ते तो केवटको नाव नहीं खेने देते। उसकी लग्गी लेकर स्वयं नाव खेने लगते। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षियोंका भी दु:ख इनसे नहीं देखा जाता। कई बार इन्होंने मछली बेचनेवालोंसे मछलियाँ खरीदकर तालाबोंमें छुड़वायी थीं। एक दिन नारायणगंजके पाटके कारखानेके कुछ साहब पक्षियोंका शिकार करने देवभोग आये। बन्दूककी आवाज सुनते ही नाग महाशय दौड़े और हाथ जोड़कर साहब लोगोंसे विनती करने लगे। साहब लोग इनकी बातको सुनी-अनसुनी करके फिरसे बन्दूक चलानेकी तैयारी करने लगे, तब तो नाग महाशयने बड़े जोरसे डाँटकर उनकी बन्दूकें छीन लीं। साहबोंने समझा, यह पागल है और वहाँसे लौटकर नाग महाशयपर मुकदमा चलानेका विचार करने लगे। नाग महाशयने घर आकर बन्दूकोंको अलग रख दिया और प्राणघातक अस्त्रसे स्पर्श होनेके कारण हाथोंको अच्छी तरहसे धोया। कुछ देर बाद नाग महाशयने पाटके कारखानेके एक कर्मचारीके द्वारा बन्दूकें लौटा दीं। कर्मचारीके मुखसे नाग महाशयके साधु-चरित्रकी प्रशंसा सुनकर साहबोंके मनमें उनके प्रति श्रद्धा हो गयी और फिर वे शिकार खेलनेके लिये देवभोग कभी नहीं गये।

उनके जीवनमें ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं— जिनसे उनके साधुस्वभाव, अहिंसा-प्रेम, परदु:खकातरता और अनोखी सहनशीलताका पता लगता है।

नाग महाशय परमहंस रामकृष्णके खास शिष्योंमेंसे थे और इनपर परमहंसदेवकी बड़ी ही कृपा रहती थी। सभी लोग इनको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते थे। प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दने तो अमेरिकासे लौटकर यहाँतक कहा था कि 'हमारा जीवन तो तत्त्वकी खोजमें ही व्यर्थ बीत गया। हमलोगोंमें एक नाग महाशय ही ऐसे हैं, जो परमहंसदेवकी सफल सन्तान हैं।'

पिताके परलोकगमनके तीन वर्ष बाद तिरपन वर्षकी उम्रमें आपने देहत्याग किया। उस समय स्वामी शारदानन्द आपके पास थे।

नाग महाशयकी जीव-दया

नाग महाशय साक्षात् दयाकी मूर्ति थे। इनके घरके सामनेसे मछुए यदि मछली लेकर निकलते तो आप सारी मछलियाँ खरीद लेते और उन्हें ले जाकर तालाबमें छोड़ आते। एक दिन एक सर्प इनके बगीचेमें आ गया। स्त्रीने इन्हें पुकारा—'काला साँप! लाठी ले आओ!'

नाग महाशय आये, किंतु खाली हाथ। आप बोले—'जंगलका सर्प कहाँ किसीको हानि पहुँचाता है। यह तो मनका सर्प है, जो मनुष्यको मारे डालता है।'

इसके पश्चात् आप सर्पसे बोले—'देव! आपको देखकर लोग डर रहे हैं। कृपा करके आप यहाँसे बाहर पधारें।'

सचमुच वह सर्प नाग महाशयके पीछे-पीछे बाहर गया और जंगलमें निकल गया।

जीवनमें अशान्ति क्यों?

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

यह प्रश्न इसीलिये उठता है कि अशान्ति किसी भी मानवको पसन्द नहीं है, किसीको अच्छी नहीं लगती है। सबको शान्ति प्रिय है। मानवकी जीवनमें सर्वत: माँग ही होती है शान्ति, स्वाधीनता और प्रियताकी। यह प्राप्य भी है, फिर भी हमसे क्या त्रुटि होती है कि जीवनमें अशान्ति आती ही है?

विचार करनेपर मालूम होता है कि सबसे पहली भूल यह होती है कि हम जीवनका अर्थ ही नहीं समझते। जन्मसे मृत्युतक जो समयावधि है, उसे ही जीवन मानते हैं। परंतु जीवन तो नित्य, अविनाशी रसरूप तत्त्व है।

दूसरी भूल होती है कि हम अपने बारेमें विचार ही नहीं करते कि 'मैं' हूँ क्या—क्या मैं मात्र शरीर हूँ या शरीरसे भिन्न भी अपना कोई अस्तित्व है।

सच्चाई यह है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है।' यह माननेमें बाधा क्या है? हम शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूपसे कोल्हूके बैलकी तरह निरन्तर चलते ही रहते हैं, अर्थात् हर समय कुछ-न-कुछ करते रहते हैं और कुछ-न-कुछ आगे-पीछेका चिन्तन करते रहते हैं। कोई ठहराव है ही नहीं, जब हम शान्त होकर आत्मचिन्तन कर सकें।

यदि हम शान्त होकर अपने बारेमें विचार करें तो यह सहज समझमें आयेगा और अनुभव करेंगे कि मैं शरीर नहीं हूँ। क्यों, क्योंकि यदि मैं शरीर होता तो शरीरका द्रष्टा नहीं हो सकता था। हमारा अनुभव है कि हम द्रष्टाके रूपमें देखते हैं कि मन क्या चाह रहा है, बुद्धि क्या सोच रही है, विवेक क्या कह रहा है, चित्त खिन्न या प्रसन्न है, आदि। तब यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि मैं शरीरसे अलग कुछ हूँ।

आप सोचिये, जो शरीर आपको मिला है, उसको आप 'मैं' कहते हैं क्या? मेरा शरीर कहते हैं कि मैं शरीर कहते हैं?

जिसको 'यह' कहते हैं, उसको 'मैं' कह सकते हैं क्या? अपने ज्ञानके प्रकाशमें ऐसा लगता है कि शरीरको हम 'यह' करके अनुभव करते हैं। अच्छा तो जो 'यह' है, उसका नाम 'मैं' नहीं हो सकता और जिसपर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, वह मेरा नहीं हो सकता।

होता यह है कि जब हम देहसे अपनेको मिला देते हैं अर्थात् शरीरमें ही जीवन बुद्धि हो जाती है—अपनेको शरीर ही मानते हैं, तब अपनेमें अनेक उपाधियाँ जोड़ लेते हैं, मैं अमुक हूँ, मेरा 'यह' आदि। देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्यक्षेत्रके अनुरूप अनेक मान्यताओंसे अपनेको मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओंकी भूमि केवल देह है। यही देहाभिमानका रूप ले लेता है। अपनेको देह माननेसे भोगकी ही रुचि उत्पन्न होती है, जो सब प्रकारसे अहितकर है। इसलिये देहाभिमान कैसे उत्पन्न होता है और उसका नाश होना क्यों आवश्यक है, इसपर विस्तृत विचार आवश्यक है।

'देहके तादात्म्यसे ही देहका अभिमान उत्पन्न होता है और देहके अभिमानसे ममता और कामनाओंका जन्म होता है। देहके अभिमानका परिणाम है—ममता और कामना।'

ममता और कामना है क्या और उनका हमारे जीवनपर क्या प्रभाव पड़ता है? वस्तुत: ममता सुख लेनेका एक उपायमात्र है। जिससे जितना ज्यादा सुख लेंगे, उससे ममता तोड़ना उतना ही कठिन होगा। अपना मानना ही ममता है।

'साधकको ममतारहित होना है। ममता शब्दका क्या अर्थ समझा आपने? अगर सभीको अपना मानो तो ममता नहीं कहलाती। पर किसीको अपना मानो और किसीको अपना मत मानो, इसका नाम ममता है। यह कैसे छूटे?' जिसके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता, उसको अपना नहीं मानना चाहिए। उसकी सेवा करनी चाहिए। तो सेवा करना और अपना न मानना, इससे ममता नष्ट हो जाती है। और इसका फल होता है कि मनुष्यको निर्विकारता प्राप्त होती है। उसके चित्तमें किसी प्रकारका विकार नहीं रहता।

निर्विकारता बिना निर्ममताके प्राप्त नहीं होती।

आगे उद्धरणसे ज्ञात होगा कि जीवनमें ममता रहनेसे क्या कुपरिणाम होता है—

'देश-कालकी ममता सीमित बनाती है तथा वस्तु और व्यक्तिकी ममता लोभ और मोहमें आबद्ध करती है। लोभकी उत्पत्ति जड़तामें और मोहकी उत्पत्ति वियोगके भयमें आबद्ध करती है। वस्तुओंकी ममता अपनेको संग्रही बनाती है और समाजमें दरिद्रता उत्पन्न करती है, जो विप्लवका हेतु है। व्यक्तियोंकी ममता अपनेको मोही बनाकर आसक्त कर देती है और जिनसे ममता की जाती है, उनमें अधिकार लालसा जाग्रत् करती है। मोह और आसक्ति कर्तव्यका ज्ञान नहीं होने देते और अधिकार-लालसा की हुई सेवा तथा प्रीतिका दुरुपयोग कराती है और तृष्णामें आबद्ध करती है।'

अगला प्रश्न होता है कि ममता और कामना छूटनेसे जीवनपर क्या प्रभाव आता है? देखिये, वस्तु हमारे हृदयको दूषित नहीं करती, अपितु वस्तुकी ममता हृदयको दूषित करती है, वस्तुकी कामना हृदयको दूषित करती है। वस्तुकी ममतासे तो जड़ता आ जाती है और वस्तुकी कामनासे अशान्ति आ जाती है। अगर वस्तुकी ममता न रहे और वस्तुकी कामना न रहे, मेरा कुछ नहीं है, ममता गयी; मुझे कुछ नहीं चाहिये, कामना गयी। तो मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए, इन दो बातोंसे हृदयमें न तो जड़ता रहती है और न अशान्ति रहती है' ममता जानेसे जड़ता गयी, कामना जानेसे अशान्ति गयी।

'कामनापूर्तिके कारण जीवनमें प्रवृत्ति है परंतु प्राप्ति कुछ नहीं है, कारण कि अनेक बार कामनाओंकी पूर्ति होनेपर भी अभावका अभाव नहीं होता, अपितु जड़ता, परतन्त्रता एवं शक्तिहीनतामें ही आबद्ध होना पड़ता है, जो स्वभावसे ही प्रिय नहीं है। कामनापूर्तिके जीवनमें श्रम है, विश्राम नहीं; गति है, स्थिरता नहीं; भोग है, योग नही; अशान्ति है, चिर शान्ति नहीं।'

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि जीवनमें सारी विकृतियोंका आरम्भ यहींसे होता है, जब हम शरीरको ही 'मैं' मान लेते हैं। परिणाम यह ज्ञात होता है कि शरीरके नाते ही हम किसीको अपना और किसीको गैर मानते हैं और मिले हुएको अपना और अपने लिये मानते हैं।

इस भूलके कारण हम इन्द्रियोंद्वारा विषय-भोगको ही जीवनका उद्देश्य और शरीरकी आवश्यकताओंको जीवनकी माँग समझ बैठते हैं। ऐसी मान्यताओंसे उत्पन्न विभिन्न प्रकारकी विकृतियों यथा—लोभ, मोह, स्वार्थ, राग-द्वेष आदिमें हम जकड़ जाते हैं। सांसारिक उपलब्धियोंको ही जीवनका उद्देश्य और जीवनकी सफलता मानते हैं। उसके पीछे पागलकी तरह दौड़ते रहते हैं, परंतु मृगतृष्णाकी तरह वह दौड़ाता ही रहता है।

यह हमें समझनेकी बात है कि देहाभिमान अर्थात् शरीरमें जबतक 'जीवन-बुद्धि' रहेगी तबतक निर्मम-निष्काम नहीं हो सकते। निर्मम, निष्काम नहीं होंगे तो कर्तव्य-परायण नहीं हो सकते, कर्तव्य-परायण नहीं होंगे तो कर्तव्य—कर्मके पश्चात् सहज निवृत्ति और शान्ति नहीं पा सकेंगे।

कामनाओंके रहते हुए, कामना-पूर्तिके सुख और कामना-अपूर्तिके दु:खमें फँसे रहेंगे। कामना-पूर्ति नवीन कामनाओंको जन्म देती है और सभी कामनाएँ किसीकी पूरी होती नहीं, सो फिर दु:ख और परिणामत: अशान्ति।

जबतक कामनाएँ रहेंगी, उनकी पूर्तिहेतु प्रयासमें श्रम और पराश्रय रहेगा ही। श्रम और पराश्रयके रहते हम पराधीन ही रहेंगे। कामनाओंके रहते हम अपनेमें सन्तुष्ट नहीं होंगे। अपनेमें सन्तुष्ट नहीं होंगे तो स्वाधीन नहीं होंगे। सो पराधीनताके रहते शान्ति कहाँ?

हम चाहते तो यह हैं कि जीवनमें अशान्ति न रहे, परन्तु साथ ही देहाभिमान भी नहीं छोड़ते। देहाभिमानके कारण ही हमें क्षोभ होता है, क्रोध आता है, ममता और कामनाओंका जन्म होता है।

'देहाभिमान जो होता है, वह अपनी रुचिके विरुद्ध बात सुन नहीं सकता।'

अत: यदि हम चाहते हैं कि जीवनमें अशान्ति न हो तो हमें देहाभिमानसे छुटकारा पाना ही होगा। देहाभिमान होता है देहसे तादात्म्यके कारण। सो देहसे

तादात्म्य टूटना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि देहसे तादात्म्य कैसे टूटे? तो इसके दो उपाय हैं—

(१) ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करें कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ अथवा शरीर मेरा नहीं है, इस प्रकार देहसे तादात्म्यका नाश हो जाता है।

(२) दूसरोंको सहयोग देनेसे स्थूल शरीरसे, इच्छारहित होनेसे सूक्ष्म शरीरसे और अप्रयत्न होनेसे कारण शरीरसे असंगता प्राप्त होती है। तीनों शरीरोंसे असंगता प्राप्त होते ही देहसे तादात्म्यका नाश हो जाता है।

वस्तुत: जीवनके सत्यको स्वीकार करना सत्संग है। जीवनका सत्य क्या है? देह 'मैं' नहीं हूँ, देह मेरी नहीं है—यह जीवनका सत्य है। दृश्य-मात्रसे मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है—यह जीवनका सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसकी ममता और कामनाके त्यागसे अशान्ति और पराधीनताका नाश होता है—यह जीवनका सत्य है।'

अत: मात्र इस सत्यको स्वीकार करनेसे अशान्तिसे छुटकारा निश्चित है। अन्तमें सारी बातोंका सार यही है कि ईश्वरके शरणागत मानवके जीवनमें अशान्ति नहीं होती। **[प्रस्तुति—साधन-सूत्र : श्रीहरिमोहनजी]**

संतवाणी—

अमृत-वचन

• वे निस्सन्देह बड़े ही भाग्यहीन एवं अभागे हैं, जिन्हें अपने माता-पिताकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला।

• जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे माता-पिता सन्तुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गंगास्नानका फल मिलता है।

• माँके रूपमें ईश्वर अपने सामने है। भज लो (सेवा कर लो), न जाने ईश्वर कब चला जाय।

• वृद्धावस्थाका सबसे बड़ा दुश्मन एकान्त होता है। परिवारके बच्चे, बड़े, जवान सभीको समय निकालकर वृद्धोंके पास बैठना चाहिये।

• पुत्रको तो यह समझना चाहिये कि उसपर अपने माता-पिताका बड़ा भारी उपकार है, अत: वह उनकी जितनी सेवा कर सके, थोड़ी है।

• दान देनेकी भावना नरको नारायणकी ओर, भक्तको भगवान्‌की ओर, आत्माको परमात्माकी ओर तथा जीवको ब्रह्मकी ओर उन्मुख करती है।

• गुप्त दानसे दानका महत्त्व बढ़ जाता है।

• पुण्योंका पुंज उदय होनेपर संत मिलते हैं तथा संतोंकी कृपा होनेसे ही भगवान् मिलते हैं।

• जैसे सुवर्ण अग्निके सम्पर्कमें आनेपर अपना मैल त्याग देता है, उसी प्रकार मनुष्य संतोंके सम्पर्कमें आनेपर पापका परित्याग कर देता है।

• जो अभावमें भी अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, वह पृथ्वीपर स्वर्गका सुख भोगता है।

• जिस मनुष्यकी आवश्यकता जितनी थोड़ी होती है, वह उतना ही सुखी है।

• सत्य बोलो तथा प्रिय बोलो, किंतु ऐसी बात नहीं बोलो; जो सत्य हो पर अप्रिय हो तथा जो प्रिय हो पर असत्य हो।

• बाणोंसे बिंधा हुआ शरीर और फरसेसे कटे हुए वृक्षका घाव शीघ्र ठीक हो सकता है, किंतु दुर्वचन-रूपी शस्त्रसे किया हुआ घाव कभी नहीं भरता; क्योंकि वाणीका घाव हृदयके भीतर होता है।

[प्रेषक—डॉ० श्रीओम प्रकाशजी वर्मा]

गोमाताकी संवेदनशीलता

[नार्मद शिवलिंग और शालग्राम शिला सामान्य पत्थर नहीं परब्रह्म परमात्माके स्वरूप हैं, गंगा नदी नहीं ब्रह्मद्रव हैं, पीपल सामान्य वृक्ष नहीं अपितु भगवान्‌की विभूति है, ठीक वैसे ही गोमाता सामान्य पशु नहीं, वे दिव्य प्राणी हैं— भगवान्‌की करुणा और पोषणात्मिका शक्ति हैं। सरलताकी तो वे प्रतिमूर्ति ही होती हैं। उनमें मानवसे भी उच्च स्तरकी संवेदनाके दर्शन होते हैं। यहाँ गोमाताकी संवेदनशीलताकी दो घटनाएँ प्रस्तुत हैं—सम्पादक]

(१)

मैं पोस्टमैनके रूपमें प्रमोशन होकर इन्दौर आया। भगवत्कृपासे प्लॉट हुआ, मकान बना। सोचा करता था कि अपनी सनातन हिन्दू-संस्कृतिके अनुरूप द्वारपर एक गाय होती तो बहुत अच्छा होता। संयोगकी बात, एक दिन एक पुलिस अधिकारी महोदयका सन्देश आया— माताजी एक गाय दान करना चाहती हैं। मैं पूजापाठी भी हूँ, अतः गोदानके रूपमें लक्ष्मी (गोमाता)-का आगमन मेरे घर हुआ। इस प्रकार गोरूपिणी लक्ष्मी दानमें आ गयीं। पुलिस अधिकारी महोदयने समझाया—इसे डाँटना-डपटना मत, बहुत ही समझदार है, अन्न-जलतक त्याग देगी। वाकईमें जैसा सोचा, लक्ष्मी उससे कहीं ज्यादा समझदार निकली। रंग एकदम सफेद; नाक-नक्स, सींग, डील-डौल ऐसा कि बस पूछो मत! विधाताने सुन्दरतामें कोई भी कमी नहीं छोड़ी। उसका आगमन हुआ, मानो साक्षात् लक्ष्मी आ गयी। पत्नीकी सलाहसे उसका नाम 'लक्ष्मी' ही रखा और उसके आनेके बाद मेरे घर पौ बारह-सी होने लगी। समय बीता, लक्ष्मीके साथमें रहनेके लिये श्यामा गाय (रमणा) भी दानमें आयी। विचार आया लक्ष्मीकी होनेवाली संतान यदि बछड़ा होगी तो उसका नाम 'जय' रखेंगे; जिससे गोमाताका पूरा परिवार 'जय लक्ष्मी-रमणा'से ही वंदित होगा।

कुछ समय बाद लक्ष्मीकी गोद हरी-भरी हुई। हम लोग लक्ष्मी और रमणाको खूब प्यार देते, इनसे भी उतना ही दुलार मिलता। यहाँतक कि हमारी संतान बेटी नहीं है, सो उनसे ही हम बेटी-सा प्यार और व्यवहार करने लगे। समय बीता हनुमान्-जयन्तीपर जयका जन्म हुआ। इस जयकी बात ही निराली थी, महिलाओंसे दूर रहता, दूध भी एक बार ही पीता, शेष समय खली खानेको मिलती, अटूट ताकत हो गयी, मेरे साथ एक ही बिस्तरपर सोता, एक तकियेपर मैं और जय सिर रखकर सोते। एक आमसे हम दोनों रस पीते। उम्र बढ़ी, कृषि-कार्यहेतु उसे गाँव भिजवा दिया। लक्ष्मीके दूसरी प्रसूतिका समय आया, किंतु विधाताको और ही मंजूर था, जन्मकी घड़ी आयी, जन्म लिये बच्चेके पैर, मुँह सब ठीक, किंतु उसकी माँसे उसके पेटमें भरण-पोषण नहीं पहुँचा। बच्चा दुर्बल और कमजोर था। गरदन विकृत थी, थोड़ा मुड़ी हुई। जीनेकी लालसा-लिये जन्म हुआ, किंतु ५-७ मिनट जिया, प्रसूति भी डॉक्टरोंकी मददसे हुई। इस दौरान लक्ष्मी तो बेहोश हो गयी, जब लक्ष्मीका पहला बच्चा हुआ था, हम दूध पिलवाकर उसे सामने घरमें ले गये। (लक्ष्मीका टीन शेड सामने बाड़ेमें है) दूसरी प्रसूतिमें लक्ष्मीको होश आया, लक्ष्मी समझी बच्चा सामने घरमें होगा, लक्ष्मीको हमपर बहुत विश्वास था, बच्चा घरमें ही होगा और मेरेसे ज्यादा देखभालमें होगा। इधर हम भी चिन्ता कर रहे थे कि अब लक्ष्मीको किस मुँहसे बतायें कि तेरे लालकी मृत्यु हो गयी!

मेरा पोस्टमैनीका जॉब है, अतः अक्सर कुछ लोग घर गौदर्शनहेतु आते रहते हैं, इनमें पारिवारिक कारणोंसे भी लोग आते रहते हैं। एक तिवारीजी कुछ समय पहले गौदर्शन कर गये थे, इस दौरान एक घटना घटी। उन्होंने मुझसे कहा कि आप गोसेवा अच्छी करते हैं। कल भूसाखेड़ीमें एक घटना घटी। एक गायने बच्चेको जन्म दिया और माँ चल बसी, बच्चेने माँको जिन्दा नहीं देखा। हमने उसे मन्दिरमें रख दिया है, मैंने उसी समय विधातासे कहा कि तुमने हमें दूध दिया, किंतु उसकी संतान नहीं बचायी। उधर संतान तो बची, किंतु माँ नहीं। खैर मैं घर आया, इस घटनाका जिक्र किया, बात आयी-गयी हो गयी। लक्ष्मीके बच्चेके नहीं बचनेकी खबर परिवारमें हो गयी। बच्चोंके मामा, जो वेटेनरी डॉक्टर हैं, ने कहा— जैसे भी हो, गायका दूध जरूर निकालना है, बच्चा

बनाइये मिट्टीका, चमड़ेका, कपड़ेका—कुछ भी करके दूध निकालिये वरना अगली प्रसूतिमें दूधमें गड़बड़ी रहेगी। रात्रिमें फिर चर्चा हुई, क्या करें? उस बछड़ेकी याद आयी, जिसकी माँ चल बसी थी, हमारे बालकोंका निर्णय रहा कि पापा! कुछ भी हो, उस बच्चेको हम लक्ष्मीसे मिलवा देते हैं, बछड़ा भी पल जायगा, दूध भी निकलकर अगली प्रसूतिका रास्ता साफ कर देगा; मैंने तिवारीजीसे सम्पर्क किया, उस मन्दिरमें पहुँचे, जहाँ बच्चा पल रहा था। बच्चा क्या वह तो बछिया थी, चाय-पत्ती खा रही थी। जैसे ही हमने अपनी गायकी व्यथा बतायी, मन्दिरवाले उसे देनेको राजी हो गये। हमने घर फोन किया—'हम बछिया ला रहे हैं। गायका दूध और गोमूत्र उपलब्ध हो जाय तो रखना, बछियाको चुपड़ देंगे।' बछियाको गाड़ीपर बैठाया, शायद बिना तारके बेतार तरंगें चलीं, उन्होंने अपना काम किया। गाय जो बेहोश हो गयी थी, रँभाना भूल गयी थी, इधर बछियाने भी जीवित माँका प्यार नहीं पाया था, 'माँ' शब्द नहीं बोल पायी थी, खबर मिलते ही गाय रँभाने लगी, बछियाने भी 'माँ' शब्द कहना शुरू किया। बछियाको गोमूत्र और दूध लगाया, फिर लक्ष्मीके पास किया, लक्ष्मीने लात चलाना शुरू किया, मारने लगी। उसे तो पता होता है ना कि ये संतान मेरी नहीं है। लक्ष्मीके पैर बाँधते, जैसे-तैसे दूध पिलवाते, किंतु उसे वह स्नेहभरा दूध नहीं मिलता, जो मिलना चाहिये। इधर लक्ष्मीको तो पता था कि ये मेरी बछिया नहीं है, मेरी संतान तो ऊँची पूरी चंचल रहती है, उसकी समझमें नहीं आ रहा था कि मामला क्या है; क्योंकि हमने उसे दूध-गोमूत्र लगाकर सामने घरसे निकाला था। जैसे लक्ष्मी समझती थी मेरा बच्चा तो घरमें सुरक्षित है। इतने दिनोंमें हमने बछिया जो बहुत सीधी और सरल थी, नामकरण 'गोपी' कर दिया था। गोपी बहुत समझदार थी, लातें भी खाती, किंतु दूध कौन छोड़े!

एक दिन मेरे मनमें आया, क्यों न लक्ष्मीसे निवेदन करें, शायद मान जाय। एकान्तमें मैंने लक्ष्मीसे कहा कि लक्ष्मी! तुम तो लक्ष्मी हो, किंतु गोपीकी माँ नहीं है, मर चुकी है। इसका जीवन बच जाय, तेरे दूधकी इसको जरूरत है, बेटा! अब तुम यशोदा बनकर इसे पाल दो तो इसका जीवन बच जायगा। बस, चमत्कार हो गया! वह दिन और आजका दिन, तबसे लक्ष्मी कभी ना-नुकुर नहीं करती, जी भरकर दूध पिलाती है। लक्ष्मी एकदम सफेद है, गोपी जब आयी थी लाल रंगकी थी, आश्चर्य कि लक्ष्मीका दूध पीनेके बाद आदत और रंग लक्ष्मीके ही हो गये! दोनों एक-जैसे सफेद हो गये हैं। एक-दूसरेके बिना नहीं रहते, एक-से-एक चिपककर बैठते हैं, दूसरा आश्चर्य यह कि जो दूसरी गाय रमणा थी, उसे भी ५ साल हो गये हैं। गोपीके आनेसे रमणाने भी उसे माँ-सा प्यार दिया। वह बड़े ममत्वसे कुँवारेमें ही उसे दूध पिलाती। अब रमणा भी माँ बननेवाली है। इस पूरे घटनाक्रमसे मुझे भी लगा वास्तवमें लक्ष्मी तो लक्ष्मी है ही, गोपीके लिये लक्ष्मी यशोदा भी बन गयी। आज गोपी और लक्ष्मी दोनों बहुत खुश हैं। गोपीको माँ और लक्ष्मीको बेटी जो मिल गयी है। धन्य है, लक्ष्मीकी संवेदनशीलता, जो आजके मानव-समाजके लिये भी अनुकरणीय है।—**श्री एस० के० शुक्ला**

(२)

बात लगभग सन् २००५ ई० के आसपासकी है। जिला-सहारनपुरके मोहल्ला-नुमायश कैम्पमें स्थित 'गोसेवा केन्द्र' पर प्रातः एक गायकी मृत्यु गायोंके चारा खानेके स्थानके पास ही हो गयी।

उस समय गोसेवा केन्द्रमें भारतीय नस्लकी गाय केवल एक ही थी, वह आकर मृतक गायके पास बैठ गयी और बाकी विदेशी नस्लकी गायें अपना चारा खानेमें व्यस्त रहीं, किसी गायने मुड़कर भी नहीं देखा, जबकि मृतक गाय उनके पिछले पैरोंके पास ही पड़ी थी। कुछ समय पश्चात् जब दाससहित ५-६ गोसेवक ठेला आदि लेकर उस मृतक गायको उठानेके लिये आये, तभी वह देशी नस्लवाली गाय वहाँसे हटी। इस बीच उस गायने उठकर एक बार भी चारा खानेकी कोशिश नहीं की, भूखी-प्यासी वहीं बैठी रही।

यह है भारतीय नस्लकी देशी गायोंकी संवेदनशीलता और विदेशी गायोंकी संवेदनहीनताका प्रमाण!

—**श्री के० एल० भटेजा**

साधनोपयोगी पत्र

(१)

काम-क्रोधादि शत्रुओंका सदुपयोग

आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि मेरा मन श्रीकृष्णके भजनके लिये छटपटाता रहता है, परंतु भजन होता नहीं, तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंका चेष्टा करनेपर भी नाश नहीं होता। सो ठीक है। श्रीकृष्ण-भजनके लिये मनका छटपटाना श्रीकृष्णका भजन ही है। वह मनुष्य वास्तवमें भाग्यवान् है, जिसका मन भजनके लिये व्याकुल है। संसारमें सभी लोग छटपटाते हैं—कोई धनके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई मान-यशके लिये, तो कोई शरीरके आरामके लिये। आप यदि श्रीकृष्ण-भजनके लिये छटपटाते रहते हैं तो निश्चय मानिये, आपपर श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है। आपकी यह छटपटाहट श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाली है।

रही काम-क्रोधादि छः शत्रुओंकी बात, सो असलमें ये बड़े शत्रु हैं। मनुष्य बाहरके शत्रुओंका तो नाश करना चाहता है, परंतु इन भीतरी शत्रुओंको अन्दर बसाये रखता है। वरन् बाहरी शत्रुओंका नाश करने जाकर इन भीतरी शत्रुओंके बलको और भी बढ़ा देता है। भगवत्-कृपासे ही इनका नाश होता है, परंतु भक्तलोग इनके नाशकी बात नहीं सोचते। वे तो इन्हें भक्तिसुधासे सींचकर मधुर, हितकर और अनुकूल अनुचर बना लेते हैं। आप भी भक्तोंके पवित्र भावोंका अनुसरण करके इन काम-क्रोधादिको भगवत्सेवामें लगानेकी चेष्टा कीजिये।

काम—आत्मतृप्तिमूलक कामनाका नाम ही 'काम' है। मनुष्य किसी भी वस्तुकी कामना करे, उसका लक्ष्य होता है सुख ही। विभिन्न जीवोंके कामनाके पदार्थ चाहे भिन्न-भिन्न हों, परंतु सभी चाहते हैं आनन्द—और आनन्द भी ऐसा कि जो सदा एक-सा बना रहे। परंतु अज्ञानवश उसे खोजते हैं विनाशी असत् वस्तुओंमें।

इसीसे उन्हें सुख-आनन्दके बदले बार-बार दुःख मिलता है। परमानन्दस्वरूप तो श्रीभगवान् ही हैं। उन्हींकी प्राप्तिसे नित्य अविनाशी परमानन्दकी प्राप्ति है। अतएव कामको परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें लगाना चाहिये। श्रीकृष्ण-प्राप्ति ही आत्मतृप्तिकी अवधि है। स्थूलरूपसे कामका प्रधान आधार है नारीके प्रति पुरुषका और पुरुषके प्रति नारीका विकारयुक्त आकर्षण। यह आकर्षण होता है स्मरण, चिन्तन, दर्शन, भाषण और संग आदिसे। काम-रिपुपर जय पानेकी इच्छा करनेवाले नर-नारियोंको परस्त्री और परपुरुषके चिन्तन-दर्शनादिसे यथासाध्य बचकर रहना चाहिये। और दर्शनादिके समय परस्पर मातृभाव तथा पितृभावकी भावना दृढ़ होनी चाहिये। कामजयी कृष्णानुरागी संतोंके द्वारा श्रीकृष्णके रूप, गुण, माहात्म्यकी रहस्यमयी चर्चा सुननेपर श्रीकृष्णके प्रति आकर्षण होता है और श्रीकृष्ण ही कामके लक्ष्य बन जाते हैं। इससे कामका शत्रुपन सहज ही नष्ट हो जाता है।

क्रोध—किसीके मनमें किसी वस्तुकी कामना है। वह कामना पूरी नहीं हो पाती, इससे वह दुखी रहता है। इसी बीचमें जब किसीसे कोई बात सुनकर या जानकर उसे यह पता चलता है कि अमुक व्यक्तिके कारण मेरा मनोरथ सिद्ध नहीं हो रहा है, अथवा कोई उसे जब गाली देता है अथवा मनके प्रतिकूल कुछ करता-कहता है, तब एक प्रकारका कम्पन पैदा होता है; वह कम्पन चित्तपर आघात करता है, चित्तके द्वारा तत्काल वह बुद्धिके सामने जाता है, बुद्धि निर्णय करती है कि यह हमारे अनुकूल नहीं है। बस, उसी क्षण उसके विपरीत दूसरा कम्पन उत्पन्न होता है। इन दोनों कम्पनोंमें परस्पर संघर्ष होनेसे ताप पैदा होता है।

यही ताप जब बढ़ जाता है, तब स्नायुसमुदाय उत्तेजित हो उठते हैं और चित्तमें एक ज्वालामयी वृत्ति उत्पन्न होती है। इसी वृत्तिका नाम क्रोध है। क्रोधके समय मनुष्य अत्यन्त मूढ़ हो जाता है। उसके चित्तकी स्वाभाविकता, पवित्रता, स्थिरता, सुखानुभूति, शान्ति और विचारशीलता नष्ट हो जाती है। पित्त कुपित हो जाता है, जिससे सारा शरीर जलने लगता है। नसें तन जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, वायुका वेग बढ़ जानेसे चेहरा विकृत हो जाता है, लम्बी साँस चलने लगती है, हाथ और पैर अस्वाभाविक रूपसे उछलने लगते हैं। इस

प्रकार जब शरीरकी अग्नि विकृत होकर बढ़ जाती है तब वाणीपर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है; क्योंकि वाक्-इन्द्रियका कार्य अग्निसे ही होता है। अतएव मुखसे अस्वाभाविक और बेमेल वाक्योंके साथ ही निर्लज्जभावसे गाली-गलौजकी वर्षा होने लगती है। उस समय मनुष्य परिणाम-ज्ञानसे शून्य हो जाता है, उसकी हिताहित सोचनेवाली विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। शरीर और मन दोनों ही अपनी स्वाभाविकताको खोकर अपने ही हाथों वर्षोंके कमाये हुए साधन-धनको नष्ट कर डालते हैं। प्यारे मित्रोंमें द्वेष, बन्धुओंमें वैर और स्वजनोंमें शत्रुता हो जाती है। पिता-पुत्र और पति-पत्नीके दिल फट जाते हैं। कहीं-कहीं तो आत्महत्यातककी नौबत आ जाती है। इस प्रकार क्रोधरूपी शत्रु मनुष्यका सर्वनाश कर डालता है। क्रोधी आदमी असलमें भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। ज्ञानके लिये तो उसके अन्त:करणमें जगह ही नहीं होती। इस भीषण शत्रु क्रोधका दमन किये बिना मनुष्यका कल्याण नहीं है। इसका दमन होता है इन चार उपायोंसे—१. प्रत्येक प्रतिकूल घटनाको भगवान्‌का मंगल-विधान समझकर उसे परिणाममें कल्याणकारी मानना और उसमें अनुकूल बुद्धि करना, २. भोगोंमें वैराग्यकी भावना करना, ३. सहनशीलताको बढ़ाना और ४. क्रोधके समय चुप रहना।

क्रोधको अनुकूल और हितकर बनानेके लिये उसको भगवान्‌की सेवामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोधका प्रयोग जब केवल भगवद्द्वेषी भावोंपर किया जाता है, तब उसके द्वारा भगवान्‌की सेवा ही होती है। भगवान्‌के प्रति द्वेषके भाव जहाँ मिलें, वहीं क्रोध हो। उन्हें हम सह न सकें। यदि वे हमारे अपने ही मनके अन्दर हों तो हम वैसे ही अपने मनका नाश करनेको भी तैयार हो जायँ, जैसे जहरीला घाव होनेपर मनुष्य अपने प्यारे अंगोंको भी कटवा डालनेके लिये तैयार हो जाता है। गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

× × × ×

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

× × × ×

जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जिऐ जग में तुम्हारो बिनु ह्वै।

× × × ×

हिय फाटउ, फूटउ नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवइ, स्त्रवइ, पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

भगवान्‌की सेवामें भगवत्-प्रतिकूलताको स्थान नहीं है। यह समझकर जहाँ-जहाँपर भगवत्-प्रतिकूलता हो, फिर चाहे वह अपने ही मनमें क्यों न हो, वहीं क्रोधका प्रयोग करके उसे तुरंत हटाना और उसका नाश करना चाहिये। यही क्रोधका सदुपयोग है।

लोभ—लोभ भी बहुत बड़ा शत्रु है। सन्तोंने लोभको 'पापका बाप' बतलाया है। अर्थात् लोभसे ही पाप पैदा होता है कामनामें बाधा आनेपर जैसे क्रोध पैदा होता है, वैसे ही कामनाकी पूर्ति होनेपर लोभ उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों मनचाही वस्तु मिलती है, त्यों-ही-त्यों और भी अधिक पानेकी जो अबाध—अमर्याद लालसा होती है, उसे 'लोभ' कहते हैं। लोभसे मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है, उससे विवेककी आँखें मुँद जाती हैं और वह विषयलोलुपताके वश होकर न्याय-अन्याय तथा धर्माधर्मका विवेक भूलकर मनमाना आचरण करने लगता है। इस लोभको मधुर, हितकर और अनुकूल बनानेका उपाय यह है कि इसका प्रयोग भजन, ध्यान, नाम-जप, सत्संग, भगवत्कथा आदिमें ही किया जाय। अर्थात् धन, मान, कीर्ति, भोग, आराम आदिसे लोलुपता हटाकर भगवान्‌के ध्यान, उनकी सेवा, उनके नामका जप, उनके तत्त्वज्ञ भक्तोंके संग, उनकी लीला, कथा आदिके सुनने-पढ़ने आदिका लोभ हो। ऐसा करनेसे लोभ शत्रु न होकर मित्र बन जाता है।

मोह—किसी भी विषयका जब अत्यधिक लोभ जाग्रत् हो जाता है तब बुद्धि उसमें इतनी फँस जाती है कि दूसरे किसी भी विषयका मनुष्यको ध्यान नहीं रहता, चाहे वह कितना ही आवश्यक और उपयोगी क्यों न हो। जैसे किसी व्यभिचारी मनुष्यका मन किसी स्त्रीमें तथा किसी स्त्रीका किसी पुरुषमें लग जाता है

तो फिर उसे नींद, भूखतकका पता नहीं लगता। धन-दौलत, विलास-वैभव, भोग-आराम सबसे वह बेसुध हो जाता है। वह निरन्तर अपने उस मनोरथके चिन्तनमें ही डूबा रहता है। यही मोह है। यह मोह जब सांसारिक पदार्थोंमें न रहकर भगवान्‌की रूप-माधुरीमें हो जाता है, भगवान्‌की रूप-माधुरीपर मुग्ध होकर जब वह पागलकी तरह सब कुछ भूलकर उसीमें फँसा रहता है, तब मोहका सदुपयोग होता है।

मद—मद कहते हैं नशेको। धन, मान, पद, बड़प्पन, विद्या, बल, रूप और चातुरी आदिके कारण मनुष्यके मनमें एक ऐसी उल्लासमयी अन्धवृत्ति उत्पन्न होती है, जो विवेकका हरण करके उसे उन्मत्त-सा बना देती है। इसीका नाम 'मद' है। मदोन्मत्त मनुष्य किसीकी परवा नहीं करता। यही मद जब भगवच्चरणके प्रेम, भगवन्नाम-गुण-कीर्तन और भगवान्‌के ध्यानमें प्रयुक्त हो जाता है, तब मनुष्य दिन-रात उसी पवित्र नशेमें चूर रहता है। जहाँ सांसारिक पदार्थोंका नशा नरकोंमें ले जाता है, वहाँ भगवत्प्रेम तथा भगवद्‌ध्यानका नशा साधकको नित्य परमानन्दमय भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति करा देता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे उन्मत्त भक्तोंको तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला बतलाया है। '**मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।**' अतएव सब कुछ भूलकर भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण, नाम आदिके चिन्तन और कीर्तनके आवेशमें डूबे रहना ही मदको अनुकूल और हितकारी बनाना है।

मत्सर—दूसरोंकी उन्नतिको न सह सकना मत्सर कहलाता है; इसीको डाह कहते हैं। संसारमें लोगोंकी उन्नति होती ही है और मत्सरताकी वृत्ति रखनेवाला मनुष्य उन्हें देख-सुनकर नित्य जलता रहता है, तथा अपनी नीच भावनासे निरन्तर उनका पतन चाहता है। परिणामस्वरूप वह नाना प्रकारके अनर्थ करके अन्तमें नरकगामी हो जाता है। इस मत्सरताका सदुपयोग होता है इसे सात्त्विक बनाकर भजनमें ईर्ष्या करनेसे। किसी साधककी साधनाको देखकर मनमें यह दृढ़ निश्चय करना कि 'मैं इनसे भी ऊँची साधना करके शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌को प्राप्त करूँगा' और तदनुसार तत्पर होकर दृढ़ताके साथ साधनामें लग जाना—यह सात्त्विक मत्सरताका स्वरूप है। इसमें किसीके पतनकी कामना नहीं होती। इससे केवल भजन-साधनमें उत्साह होता है। इससे मत्सरता भी हितकारिणी बन जाती है।

आप अपने इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर शत्रुओंको भगवान्‌में लगाकर इन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा कीजिये। भगवान्‌में और उनकी कृपाशक्तिमें विश्वास करके प्रयोग शुरू कीजिये। आपका विश्वास सच्चा होगा तो भगवत्कृपासे शीघ्र ही आप उत्तम फल प्रत्यक्ष देखेंगे। शेष प्रभुकृपा।

(२)

श्राद्ध-सम्बन्धी कुछ बातें

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला, आपने श्राद्ध-सम्बन्धी कुछ जिज्ञासाएँ लिखी हैं, उनका उत्तर इस प्रकार है—

१. अपने शास्त्र कहते हैं कि पितरोंके निमित्त श्राद्ध या तर्पण आदि जो कुछ भी किया जाता है, वह उन्हें प्राप्त होता है और उससे उन्हें सुखकी प्राप्ति होती है। जो पितर जिस योनिमें जाते हैं, उन्हें उनके अनुकूल खाद्य-पदार्थ तथा उत्तम वस्तुएँ प्राप्त होती हैं और वे पितर आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

२. आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों नहीं हैं। आत्मा न कुछ करता है, न कुछ भोगता है। वह केवल द्रष्टामात्र है। मायासे संश्लिष्ट जीवात्मा ही दूसरा शरीर प्राप्त करता है तथा अन्यान्य योनियोंमें भी जाता है, इसके साथ वह स्वर्ग एवं नरकका भी भोक्ता होता है। श्राद्ध-तर्पण आदिसे किसी भी रूपमें इन्हें सुखकी प्राप्ति होती है।

यदि जीवात्माकी मुक्ति हो जाती है तो उनके निमित्त किये गये श्राद्ध-तर्पण आदि के पुण्य उसके कर्ताको ही प्राप्त हो जाते हैं।

३. गयामें श्राद्ध-तर्पण करनेके बाद भी नियमित तर्पण और श्राद्ध करते रहना चाहिये।

बदरीनारायणमें ब्रह्मकपाली श्राद्ध करनेके बाद श्राद्धमें पिण्डदान करनेका निषेध है, सांकल्पिक श्राद्ध करनेका निषेध नहीं है। तर्पण भी कभी बन्द नहीं किया जाना चाहिये।

कृपानुभूति

भगवान् बदरीविशालकी कृपा

मेरे पति जून, २०१० ई० में रक्षा विभागसे सेवानिवृत्त होनेवाले थे। पुरी, रामेश्वरम् और द्वारकाधामोंकी यात्रा हम पहले ही कर चुके थे, सिर्फ बदरीनाथधाम ही बचा था, सो उनके सेवाकालकी आखिरी एल०टी०सी० सुविधाद्वारा मैंने बदरीनाथके दर्शनका निश्चय किया।

अम्बरनाथ (मुम्बई)-से हम हरिद्वार आये और वर्ष २००९ ई० की कार्तिक पूर्णिमापर हरकी पौड़ीमें स्नान और दीपदान आदिके बाद अगले दिन हम कारद्वारा बदरीनाथधामके लिये रवाना हो गये। देवभूमिके चमोली, देवप्रयाग एवं रुद्रप्रयाग स्थानोंसे होते हुए हम शाम ढलते जोशीमठ पहुँच गये। रात्रि-विश्राम जोशीमठमें ही करनेके बाद प्रातः पुनः यात्रा शुरू हुई। ३०-३५ कि०मी० दूर स्थित बदरीनाथ हम डेढ़ घण्टेमें पहुँच गये, ड्राइवर हमें मन्दिरके पास ही उतारकर गाड़ी ठीक कराने चला गया। लगभग १०० मीटरकी यह दूरी पार करनेमें मेरी जानपर आ गयी। मैं डायबिटीज और ब्लडप्रेशरकी मरीज हूँ, अतः वहाँ मुझे साँस लेनेमें बहुत तकलीफ हो रही थी। घिसटते-घिसटते पौन घण्टेमें हम मन्दिर-परिसरमें पहुँचे।

दर्शनके पहले तप्तकुण्डमें स्नान करनेकी परम्परा है। आसपास नर और नारायण पर्वतोंपर जमी बर्फके साथ तप्तकुण्डके गर्म पानीका सामंजस्य सिर्फ प्रभुकी लीला ही लगती है। खैर, स्नानकर मैं प्रसाद आदि लेनेके लिये जब पासवाली दुकानपर गयी तो दुकानदार कहने लगा कि 'पट बन्द होनेवाले हैं, आप जाओ, मैं प्रसाद आदि बाबूजीको दे दूँगा।' बादमें पतिदेव प्रसाद आदि लेकर आये और पट खुलनेपर हम दोनोंने बदरीविशालके जीभरकर दर्शन किये और खिचड़ीका भोग प्रसाद खाया तथा प्रभुको उनकी कृपाके लिये धन्यवाद दिया।

वापस यात्रामें कर्णप्रयागमें रात्रिविश्राम किया। दूसरे दिन प्रातः पुनः यात्रा प्रारम्भकर श्रीनगरकी धारी देवीके दर्शन करते हुए शामतक हरिद्वार लौट आये तथा रात्रि ९ बजे स्लीपर बससे हम मथुरा और ब्रजभूमिके दर्शनके लिये चल दिये। हम थके थे, सो शीघ्र ही नींद आ गयी। बस हाईवेपर सरपट भागी जा रही थी।

एकाएक मेरी नींद घबड़ाहटके कारण खुल गयी और मैंने पतिदेवको झकझोरकर उठा दिया। ये घबड़ा गये कि एक्सीडेन्ट तो नहीं हो गया, पर जब सब नार्मल देखा तो पूछने लगे कि क्या हो गया? मैंने उन्हें बताया कि एक पीतवस्त्रधारीको सामने देखा था, जो पूछ रहे थे कि दर्शन हो गये अच्छेसे। मैंने उन्हें जवाब दिया कि 'हाँ, पर आप कहाँ चले गये थे? कुछ दे भी नहीं पायी आपको।' वे बोले—'तुमको दर्शन हो गये, मुझे तुमसे सब कुछ मिल गया।' जब चेतनावस्थामें आयी तो सामने कोई नहीं था। तभी मुझे मन्दिरकी सीढ़ियोंपर घटित घटना याद आ गयी और उसे आपको बतानेके लिये उठा दिया।

फिर मैं उन्हें सुनाने लगी कि दुकानदारद्वारा 'पट बन्द होनेवाले हैं' कहनेपर मैं बिना सोचे-विचारे मन्दिरकी तरफ चली गयी, परंतु वहाँ सीढ़ियाँ देखकर मेरा दिल बैठ गया कि कैसे चढ़ पाऊँगी? हिम्मतकर तीन-चार सीढ़ियाँ चढ़नेकी कोशिश की, पर साँस फूल जानेसे वहीं बैठ गयी और सोचने लगी कि दर्शन कैसे होंगे? रुआँसी होकर शिखरको देखकर कहने लगी, मैं तो चढ़ नहीं पाऊँगी और दर्शन भी नहीं हो पायेंगे। ठीक है, आप तो मुझे देख रहे हैं—यही संतोष रहेगा। एकाएक इन्हीं पीतवस्त्रधारीको अपने सामने खड़े देखा, जो हाथ बढ़ाकर पूछ रहे थे कि क्या दर्शन करना है? मेरे हाँ कहते ही उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथमें लिया और ऊपर बढ़ने लगे। मुझे कुछ याद नहीं है कि मैं कैसे चढ़ी और मन्दिरके गर्भगृहमें पहुँची। पट बन्द हो रहे थे और मैं प्रभुके सामने खड़ी थी। अच्छेसे दर्शनकर सबके साथ बाहर निकली, तबतक मैं यह घटना भूल चुकी थी। फिर आप मिले और इसके बाद तो आपको मालूम ही है।

मैं इनसे पूछ रही थी कि ये पीतवस्त्रधारी कौन थे? क्या स्वयं बदरीविशालने ही मेरी असहाय हालत देखकर मुझे अपना दर्शन कराया। इनके पास कुछ जवाब नहीं था। बस, इतना ही कहा कि तुम्हारी श्रद्धा और आस्था ही थी, जो ऐसा घटित हुआ।

आज भी जब यह घटना याद आती है तो शरीर रोमांचित और मन गद्‌गद हो उठता है।—**श्रीमती जयन्ती शर्मा**

पढ़ो, समझो और करो

(१)

क्षमाका पारस

रामसिंह और धीरसिंह सगे भाई थे। रामसिंह बड़ा और धीरसिंह छोटा था। माता-पिताका साया सिरसे उठ चुका था, अत: घरका सारा भार रामसिंहपर था। उसके तीन बच्चे थे। वह अध्यापक था, सुबह-शाम और छुट्टीके दिन वह पत्नीसहित खेतपर काम करता रहता। वह धीरसिंहको पुत्रके समान प्यार करता था, किंतु धीरसिंह कुसंगतिका शिकार था। वह गाँवके लफंगोंके साथ दिन-भर मटर-गश्ती करता रहता था। घर और खेतका तनिक भी कार्य नहीं करता था, धीरे-धीरे वह नशा भी करने लगा। रामसिंहने उसे बहुतेरा समझाया, किंतु वह तो चिकना घड़ा बना हुआ था। एक दिन वह नशेमें धुत्त होकर और दुनाली बन्दूकके साथ खेतपर जा धमका। वह दहाड़ते हुए बोला—'निकल जा मेरे खेतमेंसे।' रामसिंह खेतमें पानी दे रहा था। मिट्टी सने हाथोंसे वह सामने जा खड़ा हुआ और बोला—'यदि न निकलूँ तो?' 'गोली मार दूँगा' तो मार गोली। 'ठायँ' की गगनभेदी आवाजसे साथ रामसिंह लहूलुहान होकर जमीनपर ढह गया। धीरसिंह भाग छूटा। आसपासके खेतोंपर काम करनेवाले जमा हो गये। रामसिंहने छाती पकड़े हुए, अटक-अटककर कहा—'बन्दूक... साफ... कर रहा था··· घोड़ा दब गया। धीरसिंहको कुछ... मत कहना। उसे कहना··· शादी कर ले और थोड़ा मेरे बच्चों··· का भी ध्यान रख ले।' रामसिंहके प्राण-पखेरू उड़ गये।

चार माहतक धीरसिंह इधर-उधर भागता फिरा। एक दिन कोटामें उसके गाँवका एक व्यक्ति मिला। उसने उससे कहा—क्यों भागते फिर रहे हो? तुम्हारे भाईने तुमपर कोई दोष नहीं लगाया, बल्कि बन्दूक साफ करते समय घोड़ेके दब जानेकी बात कही।'ऐं' धीरसिंह बोला 'सच'। हाँ, भाई! मैं बिल्कुल सच कह रहा हूँ, 'सच कह रहे हो' कहता हुआ धीरसिंह बेसाख्ता दौड़ता गाँव आया। भाभीके चरणोंमें गिरकर दहाड़ मारकर रोया, पुन: दो धोती लेकर खेतपर चला गया और गया तो ऐसा गया कि फिर ३५ वर्षोंतक गाँवकी ओर मुँह नहीं किया।

उसने झोपड़ी और आसपासकी जमीन साफ की। उसका खाना एक निश्चित समयपर पेड़के नीचे चबूतरेपर रख दिया जाता। वह एक समय खाना खाता था। वह अपने पास किसीको नहीं आने देता। लोगोंने उसे आधी रातको खेतपर घूमते देखा था। उन्होंने उसे फिर कभी सोते भी नहीं देखा। वह कभी-कभी पासकी एक पहाड़ीपर चला जाता। कभी तालाबके किनारे घण्टों बैठा रहता। ३५ सालकी अवधिमें उसके भाईके घरमें दो बहुएँ आ गयी थीं और एक बच्ची ससुराल चली गयी। किंतु वह किसी शादी-समारोहमें शामिल नहीं हुआ, वह उन्हें दूरसे ही हाथ उठाकर आशीर्वाद दे देता। सिर और दाढ़ीके बालोंने बढ़कर उसके चेहरेको डरावना बना दिया था, झोपड़ीमें भाईका एक चित्र था, वह उसके सामने बैठकर बुदबुदाता—'मैंने तेरी हत्या की, तूने मुझे क्षमा किया। मैंने भाभीको बेवा बनाया, बच्चोंको अनाथ किया। मैं दानव तू देवता! इस बार तो नहीं किंतु अगले जन्ममें तेरा ऋण चुका दूँगा।

एक दिन जब भोजनका कटोरदान ज्यों-का-त्यों मिला तो लोगोंने उसकी झोपड़ीमें जाकर देखा, भाईके चित्रको छातीसे लगाये वह मृत पड़ा था।

ईसाने सूली देनेवालोंके लिये कहा था—'हे पिता! ये नादान नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।' संत एक-नाथने अपने पर १०८ बार थूकनेवाले यवनको क्षमा कर अपना मुरीद बना लिया था। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने भोजनमें विष मिला देनेवाले रसोइयेको पैसे देकर दूर चले जानेको कहा था। द्रौपदीने अपने पाँचों पुत्रोंके हत्यारे अश्वत्थामाको क्षमा कर दिया था। विधाता हर मानवको संसारमें भेजते समय उसे क्षमाका एक पारस देते हैं, जिसका प्रयोगकर वह महामानव बन सकता है, रामसिंहने उसे अपनाकर एक दानवको मानवमें बदल दिया था। उसे शत-शत प्रणाम!—**गोपाल कृष्ण जिन्दल**

(२)

मनुष्यमें देवता

रायचन्दभाईका बम्बईमें जवाहरातका बड़ा व्यापार था। उन्होंने एक दूसरे व्यापारीसे सौदा किया। सौदेमें यह निश्चय हुआ कि अमुक तिथिके अंदर, अमुक भावमें वह व्यापारी रायचन्दभाईको इतने जवाहरात दे दे। सौदेके अनुसार लिखा-पढ़ी हो गयी। कंट्राक्टके दस्तावेजपर हस्ताक्षर हो गये।

परिस्थितिने पलटा खाया। जवाहरातकी कीमत इतनी अधिक बढ़ गयी कि वह व्यापारी यदि रायचन्द-भाईको कंट्राक्टके भावसे जवाहरात दे तो उसको इतनी अधिक हानि हो कि उसे अपना घर-द्वारतक बेचना पड़े।

रायचन्दभाईको जब उस जवाहरातके वर्तमान भावका समाचार मिला, तब वे तुरंत ही उक्त व्यापारीकी दूकानपर पहुँचे। रायचन्दभाईको देखते ही वह व्यापारी घबरा गया और बड़ी ही नम्रतासे कहने लगा—'रायचन्दभाई! मैं अपने उस सौदेके लिये बहुत ही चिन्तातुर हूँ। जैसे भी हो, वर्तमान बाजार-भावके अनुसार मैं जवाहरातके नुकसानके रूपये आपको चुका दूँगा, आप चिन्ता न करें।'

रायचन्दभाईने कहा—'क्यों भाई! मैं चिन्ता कैसे न करूँ। जब आपको चिन्ता होने लगी है, तब मुझको भी होनी ही चाहिये। हम दोनोंकी चिन्ताका कारण तो यह कंट्राक्टका दस्तावेज ही है न? यदि इस दस्तावेजको नष्ट कर दिया जाय तो दोनोंकी चिन्ताकी पूर्णाहुति हो जाय।'

व्यापारीने कहा—'ऐसा नहीं; मुझे आप दो दिन-की मुहलत दीजिये। मैं कैसे भी व्यवस्था करके आपके पैसे चुका दूँगा।'

रायचन्दभाईने दस्तावेजको फाड़कर टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहा—'इस दस्तावेजसे ही आपके हाथ-पैर बँध रहे थे। बाजार-भाव बढ़ जानेसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये आपकी ओर निकलते हैं, परंतु मैं आपकी वर्तमान परिस्थिति जानता हूँ। मैं ये रुपये आपसे लूँ तो आपकी क्या दशा हो? रायचन्द दूध पी सकता है, खून नहीं।'

वह व्यापारी रायचन्दभाईके चरणोंमें पड़ गया और उसके मुखसे निकल पड़ा—'आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।'

छल-कपट, ठगी, झूठ और धोखेबाजीसे किसी भी प्रकार दूसरे मनुष्यकी बुरी परिस्थितिका लाभ उठानेके लिये आतुर आजका समाज इस महापुरुषके जीवन-प्रसंगसे प्रेरणा प्राप्त करे।—**मधुकान्त भट्ट**

(३)

मानवमें प्रकाशित देवत्व

ऑफिसमें आये हुए नये सज्जनकी ओर सबका ध्यान खिँच गया। लक्ष्मीशंकरने नये नियक्त होकर आनेवाले सज्जनकी तरफ अपने चश्मेमेंसे सूक्ष्म दृष्टि डालकर देखा और सामने बैठे हुए क्लर्ककी ओर आँख मटकाकर कहा—'कोई कॉलेजसे निकला हुआ मालूम होता है।'

लक्ष्मीशंकरने फिर मुसकराकर मेरी ओर देखा। 'हाँ, लगता तो ऐसा ही है।'

फिर आफिसका कार्य यन्त्रकी तरह चलने लगा। मैं नवीन आगन्तुककी चेष्टा देखता रहता। वे बड़ी ही सन्निष्ठा तथा एकाग्रताके साथ अपना काम करते थे।

कामकी भीड़में क्लर्कलोग तीखे वचन बोला करते थे। लक्ष्मीशंकरने तम्बाकू सूँघते हुए कहा—'आपको कौन-सा विभाग मिला है?' लक्ष्मीशंकर हमारे ऑफिस-में बड़े चालाक-चुश्त आदमी समझे जाते थे।

'आने-जानेका और तकाबीका।' नये सज्जनने संक्षिप्त उत्तर दिया। 'यह तो फजूल-सा है'—और हम सभी लोग ठहाका मारकर हँस पड़े।

नये सज्जन कुछ क्षण भाई लक्ष्मीशंकरकी ओर देखते रहे। उनके मुखपर सौम्य रेखाओंको देखकर मुझे लगा कि यह आदमी किसी जुदा ही मिट्टीसे बना हुआ है।

ऑफिसका काम चालू होनेपर एक दलाल आया। इसने नवीन सज्जनसे दस्तावेजका कागज देनेको कहा और दो रुपये मेजपर रख दिये। फिर दस्तावेज लेकर वह जाने लगा।

'बाबू! ये आपके रुपये यहाँ पड़े रह गये?' नये सज्जनने कहा! 'यह तो आप समझ लीजिये न! चाय-पानीके….।' दलालने सहज हँसकर उत्तर दिया।

'परंतु मैं चाय-पानी नहीं पीता और पैसे नहीं लेता।' उन्होंने कहा।

लक्ष्मीशंकर और हम सभी लोग उनके मुँहकी ओर देखते रह गये। 'यह निरा बुद्धू मालूम होता है।' क्लर्कोंमेंसे एकने धीरेसे कहा।

'भाई! मालदार होगा, यह तो सबकी रोटी मारेगा।' दूसरेने कटाक्ष किया। दूसरे दिन गाँवोंके किसान तकाबीके रुपये लेने आये। एक किसानके चार सौ रुपये मंजूर हुए थे। उसे रुपये गिना दिये गये। उस किसानने एक दस रुपयेका नोट रख दिया।

'भाई! यह नोट किसलिये रखा?' नये अफसरने कहा।

'यह तो साहेब! सभी लेते हैं। यह तो रिवाज ही हो गया है।' किसानने कहा।

'सब लोग जो चाहें सो करें, तुम थोड़ी देर मेरे पास बैठो।' यों कहकर नवीन सज्जनने कागजपर कुछ लिखा और उसे लेकर वे साहेबके पास उनके कमरेमें चले गये।

'साहेब! मुझसे यह नौकरी नहीं होगी। यह लीजिये त्यागपत्र।'

साहेबको तथा हम सभीको एक जोरका धक्का-सा लगा। इस बेकारीके जमानेमें रेवेन्यू विभागकी बढ़िया नौकरीपर ठोकर मार देनेवाले इस आदर्शके पीछे पागल नौजवानकी विशेष बातें सुननेके लिये मानो हमारे श्वास रुक-से गये। साहेब तो त्यागपत्रका कागज दोनों हाथोंमें पकड़े कठपुतलीकी तरह स्तब्ध रह गये।

उन नवीन सज्जनने कहा—'साहेब! बिना मेहनतकी एक पाई भी मैं नहीं ले सकता और इस बर्तावसे मुझे ऑफिसमें सबका अप्रिय हो जाना पड़ेगा। इससे अच्छा यही है कि मैं किसी दूसरी जगह कहीं अध्यापकका या वैसा ही कोई काम ढूँढ़ लूँ और राष्ट्रका ऋण चुकानेकी चेष्टा करूँ।' इतना कहकर वे साहेबके कमरेसे बाहर निकल आये। ऑफिसमें पंक्तिबद्ध टेबलें रखकर कुर्सियोंपर बैठे हुए क्लर्कोंकी ओर देखकर वे मधुर-मधुर मुसकरा दिये। सीपमें स्थित मुक्ता-सदृश उनकी उज्ज्वल दन्तावली और सौम्य व्यक्तित्वने हम सबपर मानो एक प्रकारका जादू फैला दिया। सबको नमस्कार करके वे चलते बने।—**रामशंकर ना० भट्ट**

(४)

आदर्श ईमानदारी एवं कर्तव्यपरायणता

घटना सन् १९७९ ई० की है, श्रीगंगाबख्शसिंहजी उस समय उन्नाव जनपदकी पुरवा तहसीलमें नायब तहसीलदार थे। एक बार श्रीसिंहको शासनकी ओरसे लगभग १०० हेक्टेयर भूमि गरीबों और भूमिहीनोंमें वितरित करनेके लिये मिली। उन्होंने लेखपालोंसे पात्र व्यक्तियोंकी लिस्ट माँगी। ऐसी स्थितिमें प्रायः लेखपाल और कानूनगोकी संस्तुतिपर जमीनें चयनित व्यक्तियोंको दे दी जाती हैं, पर वे लिस्ट लेकर स्वयं तहसीलके सभी ग्रामोंमें गये, वहाँ वस्तुस्थितिका भौतिक सत्यापन किया, बहुत-से ऐसे भी व्यक्यिोंका नाम लेखपालोंद्वारा प्रस्तुत की गयी लिस्टमें शामिल था, जो स्वयं तो भूमिहीन थे, परंतु उनके पिताके नाम, माताके नाम या पत्नीके नाम पर्याप्त मात्रामें भूमि थी। उन्होंने उन सबके नाम तो लिस्टसे काट ही दिये साथ ही लेखपालोंको भी आगेसे कार्यमें इस प्रकारकी शिथिलता न करनेकी चेतावनी दी।

उसी तहसीलके अन्तर्गत एक गाँवमें उनकी पुत्रीकी ससुराल थी। श्रीसिंहके समधीके नाम तो जमीन थी, परंतु उनके दामाद तथा दामादके अन्य भाइयोंके नाम जमीन नहीं थी, यदि वे अपनी कर्तव्यपरायणतामें शिथिलता करते तो उनको भी जमीन दे सकते थे, परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। सरकारी अधिकारीके रूपमें उन्होंने अपने कर्तव्यको ही प्रधानता दी, उसके सामने उनके लिये सारे रिश्ते-नाते गौड़ थे।

आज जहाँ शासन-प्रशासनमें बैठे बहुत-से अधिकारी-पदाधिकारी ईमानदारी और कर्तव्यपरायणताको ताखपर रखकर भाई-भतीजावाद करते हैं—ऐसेमें इस प्रकारकी ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता एक आदर्श है, जो भ्रष्टाचारके गहन अन्धकारमें डूबे समाजके लिये प्रकाश-स्तम्भके समान पथ-प्रदर्शक है।—**जयदीप सिंह**

मनन करने योग्य

निष्पक्ष न्याय

काशीनरेशकी महारानी अपनी दासियोंके साथ वरुणा-स्नान करने गयी थीं। उस समय नदीके किनारे दूसरे किसीको जानेकी अनुमति नहीं थी। नदीके पास जो झोपड़ियाँ थीं, उनमें रहनेवाले लोगोंको भी राजसेवकोंने वहाँसे हटा दिया था। माघका महीना था, प्रात:काल स्नान करके रानी शीतसे काँपने लगीं। उन्होंने इधर-उधर देखा; किंतु सूखी लकड़ियाँ वहाँ थीं नहीं। रानीने एक दासीसे कहा—'इनमेंसे एक झोपड़ेमें अग्नि लगा दे। मुझे सर्दी लग रही है, हाथ-पैर सेंकने हैं।'

दासी बोली—'महारानी! इन झोपड़ोंमें या तो कोई साधु रहते होंगे या दीन परिवारके लोग। इस शीतकालमें झोपड़ा जल जानेपर वे बेचारे कहाँ जायँगे?'

रानीजीका नाम तो करुणा था; किंतु राजमहलोंके ऐश्वर्यमें पली होनेके कारण उन्हें गरीबोंके कष्टका भला क्या अनुभव? अपनी आज्ञाका पालन करानेकी ही वे अभ्यासी थीं। उन्होंने दूसरी दासीसे कहा—'यह बड़ी दयालु बनी है। हटा दो इसे मेरे सामनेसे और एक झोपड़ेमें तुरंत आग लगाओ।'

रानीकी आज्ञाका पालन हुआ। किंतु एक झोपड़ेमें लगी अग्नि वायुके वेगसे फैल गयी। सब झोपड़े भस्म हो गये। रानीजी तो इससे प्रसन्न ही हुईं। वे राजभवनमें पहुँचीं और जिनके झोपड़े जले थे, वे दुखी प्रजाजन राजसभामें पहुँचे। राजाको इस समाचारसे बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने अन्त:पुरमें जाकर रानीसे कहा—'यह तुम्हें क्या सूझी? तुमने प्रजाके घर जलवाकर कितना अन्याय किया है, इसका कुछ ध्यान है तुम्हें?'

रानी अत्यन्त रूपवती थीं। महाराज उन्हें बहुत मानते थे। अपने रूप तथा अधिकारका गर्व था उन्हें। वे बोलीं—'आप उन घासके गन्दे झोपड़ोंको घर बता रहे हैं! वे तो फूँक देने ही योग्य थे। इसमें अन्यायकी क्या बात?'

महाराजने कठोर मुद्रामें कहा—'न्याय सबके लिये समान होता है। तुमने लोगोंको कितना कष्ट दिया है। वे झोपड़े गरीबोंके लिये कितने मूल्यवान् हैं, यह तुम समझ जाओगी।'

महाराजने दासियोंको आज्ञा दी—'रानीके वस्त्र तथा आभूषण उतार लो। इन्हें एक फटा वस्त्र पहनाकर राजसभामें ले आओ।'

रानी कुछ कहें, इससे पहले महाराज चले गये अन्त:पुरसे बाहर। दासियोंने राजाज्ञाका पालन किया। एक भिखारिनीके समान फटे वस्त्र पहने रानी जब राजसभामें उपस्थित की गयीं, तब न्यायासनपर बैठे

महाराजकी घोषणा प्रजाने सुनी। वे कह रहे थे—'जबतक मनुष्य स्वयं विपत्तिमें नहीं पड़ता, दूसरोंके कष्टोंकी व्यथा समझ भी नहीं पाता। रानीजी! आपको राजभवनसे निर्वासित किया जा रहा है। वे सब झोपड़े, जिन्हें आपने जलवा दिया है, भिक्षा माँगकर जब आप बनवा देंगी, तब राजभवनमें आ सकेंगी।'

'आचारः परमो धर्मः'

जीवनमें आचार-विचारका बड़ा महत्त्व है। आचारको परम धर्म कहा गया है अर्थात् मुख्य धर्म माना गया है। कोई भी सत्कर्म तबतक सफल नहीं हो सकता, जबतक उसे करनेवाला आचारवान् न हो, इसीलिये आध्यात्मिक अथवा भौतिक किसी भी प्रकारके कृत्यकी सुचारुरूपसे सम्पन्नताके लिये सत्पात्रकी खोज होती है। सत्पात्र वही है, जो आचारवान् हो। अपने शास्त्रोंमें आचारके दो विभाग हैं—'एक सदाचार तथा दूसरा शौचाचार।' बाह्यशुद्धिको शौचाचार कहते हैं और आन्तरिक शुद्धिको सदाचार कहा जाता है। जीवनमें दोनोंका महत्त्व है। बाह्यशुद्धिका तात्पर्य है जल, मिट्टी, अग्नि, वायु आदि पंचभूतोंसे अपने शरीर एवं पदार्थों आदिको शुद्ध रखना। अपने शास्त्रोंमें शौचाचारकी प्रक्रिया बतायी गयी है। शौच आदिके बाद मिट्टीसे इतनी बार हाथ धोना, बारह बार कुल्ला करना, भोजनके बाद सोलह बार कुल्ला करना आदि। एक सज्जन लिखते हैं—'दो-चार कुल्लेसे काम चल सकता है तो इतने कुल्ले क्यों किये जायँ?' इस सम्बन्धमें ब्रह्मसूत्र ग्रन्थमें एक शास्त्रार्थ है। वहाँ भी यह प्रश्न उठाया गया है और उसका उत्तर भी दिया गया है, जिसका तात्पर्य है कि शरीरकी नश्वरता और अपवित्रताको निरन्तर ध्यानमें रखनेके लिये अर्थात् देहमें ही आत्मभाव और आसक्ति न हो जाय, इसके लिये शास्त्रोंमें बाह्यशुद्धिकी व्यवस्था की गयी है। हमें अपने कल्याणके लिये शास्त्राज्ञाका पालन करना चाहिये। अपने शास्त्र हर परिस्थितिपर विचार करते हैं। यदि हम घरसे बाहर हैं, मार्गमें हैं अथवा अस्वस्थताकी अवस्थामें हैं तो शौचाचारकी सीमा आधी या चौथाई हो जाती है।*

भौतिक लाभके लिये भी शौचाचारकी आवश्यकता है। इसकी जानकारी सामान्यतः सबको नहीं रहती। एक सज्जनने किसी अनुभवी दन्तचिकित्सकसे पूछा—दाँत जल्दी क्यों हिलने लगते हैं और उनमें पीड़ा क्यों होने लगती है? चिकित्सकने उत्तर दिया—कुल्ला कम करनेके कारण दाँतके रोग होते हैं। एक वृद्ध सज्जनने अपने अनुभवके आधारपर बताया कि शास्त्रोक्त विधिसे कुल्ला आदि करनेसे कमरके दर्दमें लाभ होता है। अतः सर्वतोभावेन अपने लाभके लिये शौचाचारका पालन सबको करना चाहिये। परंतु शौचाचार साध्य नहीं है, अर्थात् मुख्य उद्देश्य नहीं है। यह साध्यको प्राप्त करनेका साधन है। साध्य है सदाचार।

सदाचारका तात्पर्य है कि हम चोरी, हिंसा तथा असत्यके आश्रयसे दूर रहें। सत्यतापर चलें, इसके साथ ही आन्तरिक दुर्गुणों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेष आदिसे बचें। इन दुर्गुणोंसे वही बच सकता है, जिसका अन्तःकरण पवित्र होगा। अन्तःकरण पवित्र उसीका होगा, जो बाह्य शौचाचारका भी पालन करे।

बाह्य शौचाचारकी सबसे मुख्य बात है अर्थकी शुद्धि। अपने शास्त्र कहते हैं कि केवल मिट्टी और जलसे पूर्ण शुद्धि नहीं होती, अर्थकी शुद्धिसे ही पवित्रता आयेगी। इसीलिये कहा गया है कि '**अन्नशुद्धौ सत्त्वशुद्धिर्न मृदा न जलेन वै।**' (लिङ्गपुराण ८५।१४०) अर्थात् अन्न (भोजन) आदिकी पवित्रतासे ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अन्नकी शुद्धिका मतलब है कि अपनी शुद्ध कमाईके पैसेसे यदि अपना जीवनयापन करते हैं तो हमारे भीतर सात्त्विकभाव आयेंगे और हमारा अन्तःकरण भी पवित्र होगा। भ्रष्टाचारका तात्पर्य है बेईमानीपूर्वक धनोपार्जन करना।

आजकल देशमें भ्रष्टाचार समाप्त करनेकी मुहिम चल रही है। यह भ्रष्टाचार सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी सभी कहते हैं कि भ्रष्टाचार समाप्त होना चाहिये। परंतु यह भ्रष्टाचार तबतक समाप्त नहीं होगा, जबतक हम आचारवान् न बनें। आचारवान् हम तभी बन सकते हैं जब अपने ऋषि-महर्षियोंके द्वारा बताये गये मार्गका अनुसरण करें। '**आचारः परमो धर्मः**' के अनुसार अपने जीवनमें शौचाचार और सदाचार दोनोंको प्रमुखता दें। धनोपार्जनमें सत्यताका आश्रय लेनेके लिये साहस और दृढ़ताकी आवश्यकता है। कदाचित् कभी कठिनाईका भी अनुभव हो सकता है, परंतु इस पथपर चलनेवालेके लिये परिणाममें परमलाभ और कल्याण निश्चित है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

आचारका दूसरा पहलू है वर्णाश्रम-व्यवस्था। भारतीय संस्कृति एवं सनातनधर्मकी यह एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है अर्थात् इसकी आधारशिला है। वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय संस्कृतिकी एक प्रकारसे मुख्य विशेषता है। विश्वके किसी भी राष्ट्रमें, देशमें, धर्म एवं सम्प्रदायमें ये व्यवस्था नहीं है।

अपने यहाँ चार आश्रम—ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ-आश्रम, वानप्रस्थ-आश्रम एवं संन्यास-आश्रम हैं। मनुष्यको अपने कल्याणके लिये अपनी जीवन-यात्रा इन चार आश्रमोंमें

* स्वगृहे सकलाचारः तदर्धं परवेश्मनि। तदर्धं तीर्थयात्रायां पथि शूद्रवदाचरेत्॥

पूरी करनी चाहिये। शास्त्रोंमें इन आश्रमोंके अलग-अलग आचार-व्यवहार बताये गये हैं।

वर्णव्यवस्थाके अन्तर्गत चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बताये गये हैं। इन सबके कर्तव्यका निरूपण भी शास्त्रोंमें वर्णानुसार किया गया है। वर्णधर्मकी रचना भगवान्‌के द्वारा हुई है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण मेरेद्वारा ही सृजित किये हुए हैं। भारतके राग-द्वेषशून्य, सर्वसुहृद, दिव्य-दृष्टिप्राप्त, त्यागी, त्रिकालज्ञ महर्षियोंने भगवान्‌के द्वारा सृष्ट इस सत्यका प्रत्यक्ष किया और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्त, शीलमय, सुखी और सुरक्षित बना दिया। इस वर्ण-विभाग-रचनामें कहीं कोई पक्षपात नहीं। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भगवान्‌के विधानसे जीवको जिस वर्ण (जिस योनि)-में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, उसके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वही उसके अपने कर्म (स्वकर्म) हैं। भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' यही वर्ण-धर्म है।

हिन्दू-धर्ममें समय-समयपर विभिन्न सम्प्रदायों यथा—शांकर-वेदान्त, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, रामानन्द, गौड़ीय-वैष्णव (चैतन्य) इत्यादि—का उद्भव हुआ। इन सम्प्रदायोंके आचार्य भी हुए, जिनके द्वारा साधना-पद्धति अपने-अपने ढंगसे प्रस्तुत हुई है, जो मनुष्यके लिये पूर्णरूपसे कल्याणकारी है। इन सभी आचार्योंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता)-का भाष्य अपने मतके अनुसार किया, पर इन सभी सम्प्रदायोंकी यह विशेष बात है कि सनातन-धर्मकी रीढ़—वर्ण-व्यवस्थाको इन सभी आचार्योंने स्वीकार किया और इसके अनुसार ही अपने भाष्यका निरूपण किया।

आजकल आदिशंकराचार्यकी २५२४वीं तथा श्रीरामानुजाचार्यकी १०००वीं जयन्ती मनायी जा रही है। श्रीरामानुज-जयन्तीके उपलक्ष्यमें भारतीय डाक विभागद्वारा एक स्मृति-डाक-टिकट भी जारी किया गया है, जिसका लोकार्पण माननीय प्रधानमन्त्रीजीके हाथों हुआ। ये बहुत अच्छी बात है। आजकल कुछ लोग इन आचार्योंको वर्ण-व्यवस्थाके विरोधीके रूपमें प्रस्तुत करते हैं, जो समुचित नहीं है। जहाँतक श्रीरामानुजाचार्यकी बात है; इनके सम्प्रदायमें आचार-विचार खासकर शौचाचार एवं स्पर्शास्पर्शकी अत्यधिक प्रधानता है। श्रीरामानुजाचार्यजी भी सभी प्राणियोंका कल्याण चाहते थे। इस सन्दर्भमें यह कहा जाता है कि उन्हें अपने गुरुसे जो मन्त्र प्राप्त हुआ, वह परमकल्याणकारी था और गुरुने उसे गुप्त रखनेका निर्देश दिया था, परंतु श्रीरामानुजाचार्यजीके मनमें यह बात आयी कि जो मन्त्र परमकल्याणकारी है, उससे केवल मेरा कल्याण क्यों हो, सभीका कल्याण होना चाहिये। इसलिये उन्होंने अपने गुरुकी सम्पूर्ण आज्ञाओंका पालन करते हुए भी इस मन्त्रको एक ऊँचे स्थानपर खड़े होकर उच्च स्वरमें घोषित कर दिया और कहा कि सब लोग इस मन्त्रको स्वीकार कर लो—यह परमकल्याणकारी है। इस घटनाके आधारपर उन्हें वर्ण-व्यवस्थाका विरोधी नहीं माना जा सकता, कारण उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें शौचाचार एवं वर्ण-व्यवस्थाके पक्षमें व्याख्या प्रस्तुत की है तथा आज भी उनके सम्प्रदायमें इन मान्यताओंका पूरी तरह पालन होता है। समयानुसार अंग्रेजोंके शासन-कालमें समाजमें कुछ विकृतियाँ भी हो गयीं। कुछ लोग जातिगत भावनासे अहंकारग्रस्त होकर दूसरोंके प्रति संकीर्ण भावना एवं राग-द्वेष करने लगे, जो सर्वथा अनुचित था। इसी कारण कुछ सुधारवादी लोग वर्ण-व्यवस्थाका विरोध भी करने लगे, परंतु वास्तवमें वर्णोंमें न तो आत्माकी दृष्टिसे भेद है और न कर्म-भेदसे भी उनमें कोई छोटा-बड़ा है। अपने-अपने स्थानपर सभीका समान महत्त्व है। सभी अन्योन्याश्रित, एक-दूसरेके पूरक और सहायक हैं तथा सभीकी अपने-अपने स्थानपर विशिष्ट उपयोगिता है। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धन-बलसे और शूद्र जन-बल एवं श्रम-बलसे गौरवशाली है। यही इनका स्वधर्म है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के दिव्य शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरूसे तथा शूद्रकी उनके चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अतः ये सब अपने-अपने कर्मका सुचारुरूपसे सम्पादन करते रहें तो निश्चितरूपसे सबका साथ सबका विकास सम्भव है। **—राधेश्याम खेमका**

गीताप्रेस, गोरखपुरके वेबसाइटपर पुस्तकोंको पढ़नेकी सरल विधि

इन्टरनेट ओपेन करनेके बाद सर्च बाक्समें Search जाकर Gitapress, Gorakhpur टाइप करें तथा "Enter key" को प्रेस कर दें, उसके बाद आपके सामने गीताप्रेस, गोरखपुरकी वेबसाइट उपलब्ध होगी। उसमें Welcome to Gitapress, Gorakhpur पर दो बार "क्लिक" करनेपर कल्याण एवं कल्याण-कल्पतरुके ग्राहक बनने हेतु, Read E-books Online और कल्याणकी वेबसाइट दिखायी पड़ेगी।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंको पढ़नेके लिये Read E-books Online पर दो बार "क्लिक" करें जिससे वेबसाइटपर उपलब्ध पुस्तकोंकी लिस्ट आपके सामने आ जायगी, जो पुस्तक पढ़ना हो उसपर दो बार "क्लिक" करनेपर आपके सामने पुस्तक पढ़नेके लिये उपलब्ध हो जायगी।

कल्याण और कल्याण-कल्पतरुके विषयमें जाननेके लिये कल्याणकी वेबसाइटपर "डबल क्लिक" करनेपर आपके सामने कल्याणका परिचय तथा पठन-सामग्री आ जायगी। जिस उपलब्ध अंकको पढ़ना हो उसपर "डबल क्लिक" करें, कुछ देर बाद आपके सामने पढ़नेके लिये वह अंक उपलब्ध हो जायगा।

kalyan-gitapress.org तथा **kalyana-kalpataru.org** वेबसाइटें भी इन पत्रिकाओंको पढ़नेहेतु उपलब्ध हैं।

गीताप्रेस, गोरखपुर प्रकाशन अब वेबसाइटपर

☞ गीताप्रेस, गोरखपुरकी **कोड** 0455-Gita (With Sanskrit Text and English Translation), 1318-Sri Ramacharit Manasa (Roman), 6-गीता-साधक-संजीवनी **(हिन्दी),** 118-श्रीदुर्गासप्तशती (सटीक), 842-श्रीललिता-सहस्रनामस्तोत्रम् **(कन्नड़),** 1788-श्रीमुरुगन् तुदिमालै **(तमिल),** 1916-श्रीमद्भगवद्गीता-सटीक **(मलयालम),** 1750-सन्त जगन्नाथदासकृत श्रीमद्भागवत-एकादश स्कन्ध **(ओड़िआ),** 1659-श्रीश्रीकृष्णेर अष्टोत्तरशतनाम **(बँगला),** 1052-इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति **(गुजराती),** 859-ज्ञानेश्वरी, मूल, मझला **(मराठी),** 1502-श्रीनामरामायणम् एवं हनुमानचालीसा, 1029-भजनसंकीर्तन-रुद्रमु-सस्वरमु **(तेलुगु)** आदि बहुत-सी विभिन्न भाषाओंकी पुस्तकें **gitapress.org** पर उपलब्ध हैं, मुफ्त डाउनलोड करें/पढ़ें।

☞ **gitapressbookshop.in से गीताप्रेस प्रकाशन ऑनलाइन खरीदें।**

☞ **kalyan-gitapress.org** पर कल्याणके प्रथम-अङ्क (1926), भगवन्नामाङ्क (1927), भक्ताङ्क (1928), श्रीमद्भगवद्गीता-अङ्क (1929), ईश्वराङ्क (1932), धर्माङ्क (1966), सदाचार-अङ्क (1978), चरित्र-निर्माणाङ्क (1983) आदि बहुत-से विशेषाङ्कोंके चुने हुए लेख मुफ्त पढ़े जा सकते हैं। इसी प्रकार Kalyan-Kalpataru के Kalyana-kalpataru.org पर मासिक अङ्क तथा कुछ प्रकाशित विशेषाङ्क मुफ्त पढ़े जा सकते हैं। उपर्युक्त दोनों पत्रिकाओंके फेसबुक facebook.com/kalyan.gitapress और facebook.com/kalpataru.gitapress पर पाठक अपने संदेश/विचार भी दे सकते हैं।

गीताप्रेसकी पुस्तकें online gitapressbookshop.in पर कोरियरसे भी उपलब्ध।

श्रावणमास भगवान् आशुतोष शिव एवं भगवान् विष्णुकी उपासनाका विशिष्ट समय है। इस कालमें किये गये पूजा-पाठ, पुराण-श्रवण, दान-पुण्य आदि अक्षय हो जाते हैं। **श्रावणमास** १० जुलाईसे प्रारम्भ हो रहा है। गीताप्रेससे प्रकाशित श्रावणमासमें नित्यपाठकी प्रमुख पुस्तकें—**(कोड 2020) शिवपुराण-मूल, (कोड 789) सं० शिवपुराण, (कोड 586) शिवोपासनाङ्क, (कोड 1985) लिङ्गपुराण-सटीक, (कोड 1627) रुद्राष्टाध्यायी।**

प्र० ति० २०-५-२०१७
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत संख्या—NP/GR–13/2017–2019
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR–03/2017–2019

नवीन प्रकाशन—अब उपलब्ध

सं० मार्कण्डेयपुराण (कोड 2069) गुजराती—भगवतीकी विस्तृत महिमाका परिचय देनेवाले इस पुराणमें दुर्गासप्तशतीकी कथा एवं माहात्म्य, हरिश्चन्द्रकी कथा, मदालसा-चरित्र, अत्रि-अनसूयाकी कथा, दत्तात्रेय-चरित्र आदि अनेक सुन्दर कथाओंका विस्तृत वर्णन है। मूल्य ₹९०

सं० भविष्यपुराण (कोड 2073) गुजराती—यह पुराण विषय-वस्तु एवं वर्णन-शैलीकी दृष्टिसे अत्यन्त उच्च कोटिका है। इसमें धर्म, सदाचार, नीति, उपदेश, अनेकों आख्यान, व्रत, तीर्थ, दान, ज्योतिष एवं आयुर्वेद शास्त्रके विषयोंका अद्भुत संग्रह है। वेताल-विक्रम-संवादके रूपमें कथा-प्रबन्ध इसमें अत्यन्त रमणीय है। मूल्य ₹१८०

आयुर्वेदिक ओषधियाँ उपलब्ध हैं

गीताभवन आयुर्वेद संस्थान (गीताप्रेस, गोरखपुर व्यवस्थाद्वारा संचालित) पो० स्वर्गाश्रममें वैज्ञानिक तकनीकसे योग्य वैद्योंकी देख-रेखमें गंगाजलके योगसे प्राकृतिक जड़ी-बूटियोंद्वारा नाना प्रकारकी आयुर्वेदिक ओषधियोंका निर्माण होता है, जिसे वैज्ञानिक तकनीकसे सीलबन्द किया जाता है। ये ओषधियाँ गीताप्रेस, गोरखपुरकी प्राय: सभी शाखाओंमें एवं अनेक स्टेशन-स्टालोंपर भिन्न-भिन्न परिमाणमें उपलब्ध हैं। अधिक जानकारीके लिये निम्नलिखित पतेपर सम्पर्क करना चाहिये—

गीताभवन आयुर्वेद संस्थान

पो०-स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश, (उत्तराखण्ड), पिन २४९३०४; फोन नं० ०१३५-२४४००५४, २१२२०१४

e-mail : gbas.gitabhawan@gmail.com

पाठकोंके लिये आवश्यक सूचना

1. 'कल्याण' एवं 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्री-विभाग' की व्यवस्था अलग-अलग है। अत: केवल कल्याणके लिये कल्याण विभागको एवं पुस्तकोंके लिये पुस्तक-विक्री-विभागको पत्र तथा मनीऑर्डर आदि अलग-अलग भेजना चाहिये। कृपया पत्र तथा मनीऑर्डर फार्मपर अपना मोबाइल नं० अवश्य लिखें जिससे आपके पत्र/मनीऑर्डरका निस्तारण शीघ्र किया जा सके।

2. कल्याणके पाठकोंकी शिकायतोंके शीघ्र समाधानके लिये कल्याण-कार्यालयमें दो फोन 09235400242/09235400244 उपलब्ध हैं। इन नम्बरोंपर प्रत्येक कार्य-दिवसमें दिनमें 9 बजेसे 12 बजे एवं 1.30 से 4.30 बजेतक सम्पर्क कर सकते हैं। अतिरिक्त नं० 9648916010 है जिसपर SMS एवं WatsApp की सुविधा भी उपलब्ध है।

3. कल्याणके सदस्योंको मासिक अंक साधारण डाकसे भेजे जाते हैं। अंकोंके न मिलनेकी शिकायतें बहुत अधिक आने लगी हैं। सदस्योंको मासिक अंक भी निश्चित रूपसे उपलब्ध हो, इसके लिये वार्षिक सदस्यता शुल्क ₹ २२० के अतिरिक्त ₹ २०० देनेपर मासिक अंकोंको भी रजिस्टर्ड डाकसे भेजनेकी व्यवस्था की गयी है।

4. कल्याणके मासिक अङ्क kalyan-gitapress.org पर नि:शुल्क पढ़ सकते हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५